योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 33 मई, 2000 अंक 2

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव
विनोद कुमार शर्मा

एक प्रति	रु०	8-00
वार्षिक शुल्क	रु०	75-00
द्विवार्षिक	रु०	140-00
आजीवन	रु०	750-00

इस अंक में

❐ ज्ञात्वात्मस्थममूर्तं.......................... 1

❐ अमृत कण.. 2

❐ विशेष लेख
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज.. 3

❐ संपादकीय... 7

❐ किमस्ति योगः
द्वारिका प्रसाद शर्मा...................... 10

❐ स्वास्थ्य चर्चा
जीवन तत्त्व साधन...................... 15

❐ देवाधिदेव श्री गुरुदेव ही भगवान शंकर
भुवनेन्द्र झा................................. 19

❐ मन्त्र जप का रहस्य
प्रोफेसर आचार्य चन्द्रहास शर्मा....: 23

❐ चित्त निग्रह
मगनलाल देसाई........................ 28

❐ योग क्या है ?
स्वामी डा० केशवाचार्य.............. 34

❐ शब्द की महिमा
श्री विनोवा.................................. 49

❐ ❐ ❐

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 33
अंक 2

मई
2000

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

ज्ञात्वात्मस्थममृतं

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/६)

भावार्थ

अर्थात्–जिससे यह प्रपञ्च (संसार) निरन्तर चलता रहता है, वह परमात्मा इस संसार वृक्ष, काल और आकृति आदि से सर्वथा अतीत, भिन्न है उस धर्म की वृद्धि करने वाले, पाप का नाश करने वाले सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिपति तथा समस्त जगत के आधारभूत परमात्मा को अपने हृदय में स्थित जानकर साधक अमृतरूप परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

अमृत कण

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति, य एवं वेद, एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद, एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ५/११/१)

अर्थात्–ज्वरादि व्याधियों से जो कष्ट होता है, उसको निश्चय ही परम तप समझो। जो ऐसा जानता है, वह परम लोक को ही जीत लेता है। तप की भावना के कारण शारीरिक कष्ट होते हुए भी दुःख नहीं होता और तप का फल प्राप्त होता है। मृत मनुष्य को जो वन में जलाने के लिए ले जाते हैं, उसको निश्चय ही परम तप समझो, जो ऐसा जानता है, वह परम लोक को जीत लेता है। मृतक मनुष्य को जो अग्नि में जलाते हैं वह भी निश्चय ही परम तप है। जो ऐसा जानता है, वह परम लोक को ही जीत लेता है। मृत्यु में तप की भावना से मरण-कष्ट नहीं होता और अन्त में मन में तपरूप परमात्मा की स्मृति रहने से दिव्य धाम या परमात्मा की प्राप्ति होती है।

* * *

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम्।।

(बोधसार)

अनाचार से मनुष्य के चित्त में मलिनता होती है और आवश्यकता से अधिक आचार करना मूर्खता (या दम्भ) कहा गया है। अतः विचारपूर्वक जो आचार किया जाता है, वही सदाचार कहलाता है।

* * *

विशेष लेख

आत्म समर्पण एवं उसका फल

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

अपने मन और बुद्धि को भगवान मे लगाने के लिये हमें उनका ध्यान करना होता है। ध्यान के द्वारा हम अपने मन को उनके मन मे लय कर देते है। छोटी शक्ति बड़ी शक्ति मे लय हो जाया करती है। हमारी नासिका रन्ध्रों से निकलने वाले परमाणु भगवान् के अथवा अपने इष्ट के परमाणुओं के अन्दर मिल जाया करते है। जिस समय हमारे परमाणु अपने इष्ट के तेज के अन्दर लय हो जायेंगे तो हमारा मन अपना मन नहीं रहेगा उनका मन बन जायेगा। मन जब उनका बन जायेगा तो 'कृष्णत्व' आ जायेगा। यही है **मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू'** मेरे मे मन वाला बनो, मेरा ही भजन करो, मुझे ही नमस्कार करो। हे अर्जुन ! ऐसा करने पर तू मुझे ही प्राप्त हो जायेगा यह मै प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ क्योंकि तू मेरा बहुत प्यारा है। यह परम रहस्य की बात मैने बताई। योग विज्ञान की बात भगवान ने समझाते हुये-**'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** की बात कही है। इस धर्म के पालन से यह पुण्य होगा, अमुक धर्म व अनुष्ठान से अमुक पुण्य होगा इस प्रकार के कर्मकाण्ड एवं कर्मजाल को छोड़कर तू मेरी शरण मे आ जा। मै तुझे सर्व पापों से व चिन्ताओं से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर। इस प्रकार से भगवान ने अर्जुन को आत्म-समर्पण करने की आज्ञा दी है। मैने आत्म समर्पण का अर्थ पहले भी बताया था। भगवान के शब्दों मे-

यद्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्।।।

अर्थात् हे अर्जुन! जो कुछ तुम कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो जो कुछ हवन करते हो, जो दान करते हो, जो तपस्या करते हो वे सब मेरे अर्पण कर दो। हमारे प्राचीन सिद्धान्त के अन्दर व्यक्ति भगवान को भोग लगाकर भोजन करता है गीता मे भी-

ब्रह्मार्पणम् ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'

अर्थात् ब्रह्म को अर्पण करके ही हमें सब कुछ ग्रहण करना चाहिए। भोग लगा लेने पर हम मानते है। भगवान तैजस आत्मा है और उन्होने इसे स्वीकार कर लिया है इसे ग्रहण करके हम निष्पाप हो गये है। **'यद्करोषि यद्श्नासि'** कहकर के भगवान का भी यह संकेत है कि सब कुछ भगवान के अर्पण कर दो। गुरुदेव के चरण कमलों मे जिनका आत्म समर्पण है उनके चरणों मे न्योछावर रहते है उनका यह समर्पण परा सत्ता का समर्पण है वह संसार मे किसी भी प्रकार से रहे

वह बिल्कुल निष्काम कर्मयोग को प्राप्त हो जायेगा, समाधि को प्राप्त हो जायेगा। श्री प्रभु जी के चरणो से सम्बन्धित समर्पण के बहुत से उदाहरण मुझे याद आ रहे है। एक घटना मै तुम्हे सुनाता हूँ।

नेपाल के जंगलो मे रहते हुये एक बूढ़ा ब्राह्मण श्री प्रभु जी की खूब सेवा किया करता था। श्री प्रभु जी के साथ मे हरिहरानन्द, दण्डी स्वामी तथा अन्य कई गुरू भाई रहते थे। ये लोग उस बूढ़े से ईर्ष्या किया करते थे। जो ज्यादा सेवा करता है। उससे और चिढ़ते हैं यह स्वाभाविक बात है। ईर्षा द्वेष चलते रहते है। उन्होने विचार किया कि शीशगिर के पहाड़ पर ज्ञानगिर अघोरी रहता है। अघोरी निरामिष होते है मनुष्य को खाया करते हैं। हम इस बूढ़े को कन्द मूल लेने वहाँ भेज देंगे वहाँ अघोरी इनको यन्त्र पर चढ़ा देगा और खा जायेगा और हमे सेवा का मौका मिल जायेगा। इस भावना से वे उसे वहाँ भेजना चाहते थे। मनुष्य अपनी बुद्धि से सोच लेता है कि प्रभु जी को क्या पता चलेगा ? 'हम यह चालाकी करते है इससे हमे सेवा का मौका मिल जायेगा, प्रभु जी खुश हो जायेंगे और वरदान वगैरह दे देंगे'। किन्तु श्री प्रभु जी घट-घट के जानने वाले हैं। वे कहने लगे-तुम लोग कन्दमूल कुछ ज्यादा लाया करो दण्डी स्वामी और अन्य कहने लगे प्रभु जी कन्द मूल तो शीशगिर मे अधिक मिलते है। परन्तु वहाँ ज्ञानगिर अघोरी रहता है। हम लोग उधर कैसे जायेंगे ? वह बूढ़ा कहने लगा- प्रभु जी ! मै जाऊँगा और वहीं पर से कन्दमूल लाऊँगा। प्रभु जी कहने लगे-नही बेटा। उधर मत जा तू और कहीं से ला। किन्तु बूढ़ा कहने लगा- नही प्रभु जी। मै वहीं से ले आऊँगा। बूढ़ा चला गया। वहाँ उसे वह अघोरी मिल गया। ज्ञानगिर उसको देखकर मन मे सोचने लगा-पला पलाया शिकार है दो तीन दिन का भोजन तो हो ही जायेगा। ज्ञानगिर ऐसा सोचकर वृद्ध को यन्त्र में चढ़ाने ही वाले थे कि इतने मे आकाशवाणी होती है- 'ज्ञानगिर ! पला पलाया शिकार है दो तीन दिन का तो भोजन हो ही जायेगा। किन्तु आँख खोलकर हाथ लगाना, यह देख लेना यह है किसका'। ज्ञानगिर ने देखा-श्री प्रभु जी का अखण्ड मण्डलाकार तेज है और उनका वरदहस्त इनके सिर के ऊपर है। उसको उसे खाने की हिम्मत नही हुई। अघोरियो का नियम होता है या तो वह आदमी को खा जाते है और यदि ऐसा न कर सके तो उसे वरदान देते हैं। अघोरी ने बूढ़े से कहा-कर्म तेरे बहुत ऊँचे है तेरे रक्षक तो सर्वशक्तिमान है। मार हम तुम्हे सकते नही, अब तू वर माँग। हमारा यही नियम होता है। तू बता क्या चाहता है ? बूढ़ा कहने लगा, ''तुम से क्या माँगूगा तू स्वयं मंगता है। तू माँग मुझसे क्या चाहता है ? ज्ञानगिर को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसके शरीर से सिद्धियो के स्थानो को देखने लगा कि क्या कोई सिद्धि भी देने लायक इसके पास है ? उसने देखा सिद्धि तो ही है किन्तु फिर श्री प्रभु जी के तेज की ओर देखा वे कह रहे है। बेटा ! इसके लिये मुख से जो भी कहेगा वही हो जायेगा। तू दण्ड देना चाहेगा। तो दण्ड मिल जायेगा, तू इसे योगी बनाना चाहेगा। तो वह योगी बन जायेगा, तेरे मुख से निकलते ही

तत्काल वैसा ही हो जायेगा। इसके बाद ज्ञानगिर कहने लगा- यदि तू कुछ भी नहीं मांगेगा तो भी मैने तुझे वाक-सिद्धि दे दी। जिसको तू जो कुछ कहेगा, वही हो जायेगा, बूढ़े ने कहा-नहीं ! मुझे तेरी सिद्धि नहीं चाहिये किन्तु अघोरी कहने लगा मैने अपने नियम के अनुसार ही यह सिद्धि तुझे दी है। वह बूढ़ा लौटकर कन्द मूल लेकर श्री प्रभु जी के पास आ ही रहा था रास्ते में ही उसे गुरू भाई मिल गये। उस की बात सुनकर कहने लगे-चौरासी लाख खरीद लाया कि नहीं। तू किसी को वरदान देगा, किसी को शाप देगा इस से तू अवश्य ही चौरासी के चक्कर में पड़ जायेगा। बूढ़ा बेचारा सरल था। कहने लगा 'अच्छा। ऐसा होगा ? पुण्य पाप के कारण मुझे चौरासी भोगना पड़ेगा। उसने कन्द मूल का गट्ठर उन्हें दे दिया और कहने लगा-भाई। श्री प्रभुजी के चरणों में मेरी अन्तिम सेवा है। वाक्‌सिद्धि और संकल्पसिद्धि को खोने के लिये अब मै जाता हूँ उन्हें खोकर दूसरा जनम लेकर फिर प्रभु जी के चरणों मे पहुँच जाऊँगा। बस ! यह मेरी अन्तिम सेवा प्रभु जी के चरणों मे अर्पित कर देना गुरू भाई लोग ऊपरी मन से कहने लगे-अरे भाई। तू क्यों जा रहा है ? कहीं मत जा। वे लोग श्री प्रभुजी के पास पहुँच गये। सारी बात प्रभुजी को बता दी। श्री प्रभु जी सोचने लगे-हमारा बच्चा इस तरह से मर जायेगा ! वह बूढ़ा वहाँ से चला गया और उसने अपनी वाक्‌सिद्धि को खोने के लिये पहाड़ की चोटी से गिरकर अपने शरीर को नष्ट कर देने का विचार कर लिया। पहाड़ की चोटी पर चढ़कर जब वह नीचे को गिरने ही वाला था तभी श्री प्रभु जी वहाँ प्रकट हो गये और कहने लगे। तू अपने शरीर को क्यों नष्ट करना चाहता है ? वह कहने लगा ! प्रभु जी। वाक्‌सिद्धि व चौरासी के चक्कर को नष्ट करने के लिये ऐसा कर रहा हूँ। इससे मै पुण्य पाप के चक्कर से बच जाऊँगा। श्री प्रभु जी कहने लगे-उसने सिद्धि दी हमने ले ली, हमने छीन ली। वह तेरे पास नहीं है। तेरे कहने से न किसी का बुरा होगा, न भला। चाहे किसी को कहकर देखले। हम जो चाहेंगे वह होगा तेरे चाहने से कुछ नहीं होगा। श्री प्रभु जी उस पर प्रसन्न हो गये और कहने लगे-हमने तुझे पूर्ण भूत जयी योगी बना दिया। श्री प्रभु जी ने एक बार कृपा की और वह सिद्ध योगी बन गया। वह उस पहाड़ से फिर प्रभु जी के पास पहुँच गया। गुरू भाई सोचने लगे यह फिर आ गया। श्री प्रभु जी कहने लगे-अरे ! तुम लोग इसके लिये क्या सोच रहे हो ? यह तो सिद्ध हो गया है अब यह अमर हो गया है। वे कहने लगे-प्रभु जी ! इसकी वाक्‌सिद्धि। प्रभु जी कहने लगे, वह तो हमने छीन ली है। यह फल होता है आत्म-समर्पण का।

श्री प्रभु जी ने उसके समर्पण पर प्रसन्न होकर पूर्ण सिद्ध योगी बना दिया। वह भी शीशगिर की पहाड़ी पर समाधिस्थ है। भगवान ने अर्जुन को **'सर्वधमान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** ऐसा कहकर आत्म समर्पण का ही संकेत किया है। धृतराष्ट्र ने संजय से एक दिन पूछा-संजय! इस युद्ध मे विजय किसकी होगी ?

संजय ने कहा–

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूति र्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण है। वहीं पर श्री, विभूति, नीति और विजय होती है। धृतराष्ट्र कहने लगे– कृष्ण चन्द्र होंगे किस की तरफ ? संजय सोचने लगे– यदि मैं कह दूँ कृष्ण पाण्डवों की तरफ होंगे तो यह रुष्ट हो जायेंगे इसलिये वह कहने लगा– महाराज ! यह तो मैं नहीं कह सकता कि कृष्ण किस तरफ होंगे किन्तु एक बात को मैं जानता हूँ कि कृष्ण कहाँ हुआ करते है। उन्होंने कहा–

यतः सत्यम् यतो धर्मो यतः ह्रीरार्जवम्यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतो कृष्णस्ततो जयः।।

अर्थात् जहाँ सत्य होता है, जहाँ धर्म होता है, जहाँ लोक लज्जा होती है, जहाँ विनम्रता होती है वहाँ गोविन्द होते हैं और जहाँ गोविन्द होते है वहाँ जय होती है। धृतराष्ट्र अपने मन में सोचने लगे कि मेरे पुत्रों में सत्य कहाँ ? झूठ ही झूठ है। मेरे पुत्रों में धर्म भी नहीं है। लाक्षागृह बनाकर पाण्डवों को जला देने का षडयन्त्र जैसा जघन्य अपराध करने वालों में धर्म कहाँ ? मेरे पुत्रों में लोकलाज भी नहीं है महलों की रानी द्रौपदी को भरी सभा में निर्वस्त्र करने की कुटिल योजना बनाकर घसीटते हुये द्रौपदी का अपमान करने वालों में कहाँ लोकलाज है ? विनम्रता भी मेरे पुत्रों में बिल्कुल नहीं है। दूत बनकर आये भगवान कृष्ण को ही बन्दी बनाकर जेल भेज देने की योजना बनाने वाले दुर्योधन में विनम्रता कहाँ है ? धृतराष्ट्र कहने लगे ये बातें तो पाण्डवों में ही है। संजय कहने लगा मैं नहीं कह सकता किन में ये बातें हैं। इसका निर्णय आप स्वयं करें। अस्तु।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आत्म समर्पण ही कल्याण का साधन है। इस समर्पण की भावना को पुष्ट करो। यह तब होती जब भीतर प्रकाश होगा। प्रेम आयेगा तब आत्म समर्पण होगा। इसलिये अपने जीवन को पूर्ण पवित्र बनाओ जिससे तुम्हारा योग ध्यान बढ़ता चला जाये। आत्म समर्पण के भाव को बढ़ाते चलो। तुम सब मेरे बच्चे हो, मेरी आत्मा के टुकड़े हो। अपने नियमानुवर्तिता के पक्के बनो। ध्यान की शक्ति पैदा करो।

***

संकल्पशक्ति की धनी भारतीय संस्कृति

तपोपूत भारत भूमि ऋषियों की भूमि है। यहाँ पर रहने वाले उनकी सन्तान है। ऋषियों ने मानव जीवन के सब प्रकार से कल्याण के लिये सही-सही मार्ग दिखाया है। ऋषियों द्वारा प्रदत्त आदेश समस्त क्रियाकलाप एवं धर्मान्वित व्यवहार का उपदेश संस्कृति का समवेत रूप है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मानव के लौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों की समुचित उन्नति के लिए साथ-साथ प्रयास करने का मार्ग प्रशस्त है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार में जो एक प्रणाली विकसित होती रही है जो मानव के समूचे ढांचे को लाभान्वित कर सकी है, उसी का नाम योग है। मनीषी विभूतियों ने मानव जीवन में मानसिक शक्ति के विकास के महत्व को समझा और इस शक्ति को विकसित करने की आज्ञा मानव समाज को दी है। संकल्प बल एक ऐसा बल है जिसे योग प्रणाली से पूर्णतया विकसित करके मनुष्य, देवताओं से भी ऊपर उठ जाता है और अन्ततः व्यापक सत्ता से तादात्म्य स्थापित करके ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। हमारे पूर्वाचार्यों एवं योगियों ने मानव को सद्चिन्तन के महत्व एवं प्रभाव को दर्शाया है। हमारी संस्कृति के पोषक पुराण एवं उपनिषद् यतियों एवं सतियों के अतुलित शक्ति के उज्ज्वल प्रमाण एवं साक्ष्यों से परिपूरित है।

हिन्दू संस्कृति एवं संस्कार पद्धति इस प्रकार की बनी है कि जिससे मनुष्य का मनोबल सदा ऊँचा बनता चला जाये और मनुष्य अन्ततः आत्म कल्याण के मूल स्रोत तक पहुँच जाये। हिन्दू संस्कृति को छोड़कर इस प्रकार की व्यवस्था विश्व में अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देती।

हमारी संस्कृति में मनुष्य के चिन्तन का केन्द्रबिन्दु आत्मा रहा है। धर्म युक्त आचरण करता हुआ मनुष्य आत्मोत्थान के पथ पर बढ़ता जाये यही लक्ष्य ऋषियों ने मानव मात्र के सामने रखा है। मन का शुभ-अशुभ चिन्तन ही संसार में दुःख का कारण होता है। भारतीय पुरातन संस्कृति में मन के शुभ चिन्तन को आत्म शक्ति की प्राप्ति का उपाय माना है। चिन्तन की धारा यदि सही लक्ष्य की ओर है तो मनुष्य महान बन सकता है। और यह धारा इसके विपरीत हो तो मनुष्य अथवा समाज, पतन की ओर चला जाता है। उपनिषदों में श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग का निरूपण किया गया है। मनीषियों द्वारा प्रतिपादित भारतीय संस्कृति श्रेयमार्ग की ओर जाती है। इसमें चिन्तन की शुद्धता व मन के शिव संकल्प की प्रधानता पाई जाती है। पाश्चात्य लोगों का मार्ग 'प्रेममार्ग' का मार्ग है। जो

सतत् अधोगामी होकर आत्महनन की ओर प्रवाहित रहता है। भौतिक विज्ञान एवं सुख सुविधा की अतुलित सामग्री भले ही मानव जुटा ले किन्तु दृष्टि आत्म कल्याण के लक्ष्य पर नहीं है तो सब निरर्थक सिद्ध हो जाता है। असुरों के पास सदा से ही विपुल ऐश्वर्य रहा है किन्तु परहित व आत्मकल्याण के चिन्तन से विमुख होने के कारण वह कभी भी मनुष्य के लिए समादृत नही रहे।

गृहस्थ में रहते हुये भी मनुष्य श्रेयमार्ग का पथिक बना रह सकता है। समाज की दृढ़ व्यवस्था मे परिवार ही मुख्य घटक है। और इस घटक मे पति-पत्नी की अहम भूमिका है। पति-पत्नी का सम्बन्ध धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के पुरुषार्थ चतुर्दिक की सिद्धि के लिये ही है। पति इति पति जो स्त्री की पतन से रक्षा करता है, उसे पति कहा गया है। पत्नी शब्द का व्युत्पत्ति सम्य अर्थ भी यही है। इस प्रकार पति-पत्नी एक-दूसरे को सन्मार्ग पर ही लगाये रखने मे सहायक बनते है। भारतीय संस्कृति मे पति-पत्नी के सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर से जोड़ा जाता है। इसलिये मनु महाराज ने अपनी व्यवस्था मे पति पत्नी को अपने मन को एक दूसरे में लगाये रखने का आदेश दिया है। मनु जी ने कहा है जिस परिवार मे पति-पत्नी दोनों एक दूसरे से प्रसन्न रहते है। उस परिवार मे सब प्रकार से समृद्धि एवं यश की वृद्धि होती है। यह पद्धति पति-पत्नी को अपने मन को स्वच्छन्द आचरण की स्वतन्त्रता नही देती। यही वह उदात्त पद्धति है, जिसमे स्त्री को सदा ही धर्म से रक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। स्त्री को बाल्यकाल में पिता के संरक्षण मे रहना चाहिये। गृहस्थाश्रम मे वह पति के संरक्षण मे रहे और वृद्धा अवस्था मे पुत्रों के संरक्षण में रहने की व्यवस्था रखी गई है।

नारी की सामाजिक व्यवस्था में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। वह समाज की धुरी बनकर माँ, बहिन, पत्नी के रूप मे समाज से जुड़ी हुई है। भारतीय संस्कृति मे प्रारम्भ से ही नारी को समाज व परिवार मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नारी के लिए हमारी संस्कृति मे महिला शब्द का प्रयोग करते है। मह्=पूजायाम अर्थात् मह धातु से पूजा के अर्थ में महिला शब्द की निष्पत्ति होती है। आज भारतीय महिला को अपने महत्वपूर्ण दायित्वों का बोध रखते हुए समाज को सम्यक् दिशा देने मे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब वह स्वयं पहले ज्ञान, शील, धर्म से युक्त हो। ऐसे संस्कार उसमें स्वयं में हो तभी उनकी सन्तान को वह सद्गुणों से पोषित कर सकती है। भारतीय संस्कृति मे अनादिकाल से ही आदर्श गृहस्थ के लिये एक पत्नीव्रती होना आवश्यक है। भगवान् रामचन्द्र एक पत्नी व्रती थे, इसी प्रकार पत्नीयों को भी पतिव्रत्य धर्म में बंधे रहने की आवश्यकता को अनादि काल से हर युग में दर्शाया गया है।

दाम्पत्य जीवन में दोनों को ही किसी भी प्रकार की स्वेच्छाचारिता का अवकाश हमारे पूर्वजों ने नही दिया है। एक पत्नी वृती ऋषियों का अद्‌भुत चरित्र किसी से छिपा नहीं है। उनमें अलौकिक एवं

अत्यन्त श्रेष्ठ कार्यसिद्धि सर्वविदित है। इसी प्रकार से अनुसूया आदि पतिव्रता नारियों की शक्ति भी सर्वविदित है। अतः आदर्श पति-पत्नियाँ आत्मकल्याण के साधन में एक दूसरे का पूरक बनकर श्रेय मार्ग की ओर अग्रसर रहते हैं।

आज विश्व के बदलते परिवेश के साथ-साथ इस प्रकार के चिरन्तन सोच में बदलाव आ गया है और इसमें ह्रास आ चुका है। आज पति-पत्नी को एक दूसरे में ही सीमित बंधे रहने की संहिता को सभ्यता के मार्ग मे अवरोध माना जाने लगा है। बड़े एवं विकसित शहरों में लोगों की धारणा ग्राम्यजनो से भिन्न होती है। वहाँ पर स्त्री पुरुष स्वतन्त्र बिहार एवं मनमाने सम्बन्धों को सभ्यता का परिचायक मानते है। पति-पत्नी एक दूसरे की स्वेच्छचारिता में आपत्ति नहीं मानते। इस प्रकार हमारे समाज पर पाश्चात्य जीवन शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। इस तरह के सोच से परिवार में कभी स्थिरता व शांति नही आ सकती।

आज का सभ्य कहलाने वाला समाज भारतीय संस्कृति के महत्व को न समझकर पाश्चात्य सभ्यता के स्वच्छन्द प्रवाह में बहता जा रहा है। यदि इसी प्रकार की धारणा व विचारों की जकड़न में भारतीय समाज जकड़ता चला गया तो ऋषियों के संयम पूर्ण एवं धर्मानुकुल आचरण के दिव्य संदेश का समावेश नहीं हो पाया तो समाज को इसका भयंकर परिणाम, विषाद, कलह, एवं चतुर्दिक नीरसता के रूप में भोगना पड़ेगा। और धार्मिक व आध्यात्म समाज की कल्पना दूर की विषय वस्तु होकर रह जायेगी।

इसीलिये आज आवश्यकता है कि युवा पीढ़ी अपने पूर्वजों एवं ऋषियों द्वारा स्थापित जीवन आदर्शों को समझे एवं चिन्तन की सही दिशा पकड़कर अपनी जीवन शैली को उज्जवल व योगमय बनावे। यदि हम चाहते है कि हमारी सन्तान शान्ति एवं आत्म कल्याण के भागी बने तो हमें चाहिये कि हम सद् चिन्तन के महत्व को आने वाली संतती को बतायें। उसका साक्षात्कार करायें। हमें ऐसा प्रयत्न सतत् करना चाहिये। जिससे उनका निरन्तर मानस विकसित हो। सद्‌चिन्तन का जीवन में सकारात्मक परिणाम होता है। सद्‌चिन्तन ही जीवन को आलोकित करता है। आज व्यक्ति उस सद्‌चिन्तन से भटक गया है, अपनी संस्कृति के द्वारा प्रदत्त पद्धति को छोड़ चुका है। यही कारण है कि आज जीवन मूल्यों का ह्रास होता स्पष्टतः देखा जा सकता है।

आने वाले समय में समाज को उत्थान के चरम पर मात्र मनीषियों द्वारा प्रतिपादित आत्म चिन्तन का मार्ग-योग मार्ग- ही पहुँचा सकता है। जिसके लिये सतत् प्रयास की आवश्यकता है।

※※※

किमस्ति योगः

(सप्त विंशतिः श्रृंखला)

रचनाकार : **द्वारका प्रसाद शर्मा**, लखनऊ।

'किमस्ति योगः' शीर्षक से आरब्ध लेख की प्रस्तुत रचना २७वीं श्रृंखला है। इस लेख में क्रमागत पातंजल योग सूत्रों की श्लोकबद्ध रचना के साथ-साथ हिन्दी भाषानुवाद प्रस्तुत करते हुए अधिकाधिक पाठकों व साधकों के निमित्त बोधगम्य कर सुलभ कराने का प्रयास किया जा रहा है। इस रचना में योग दर्शन के 'विभूति-पाद' के १२ सूत्रों को तथोक्त रीति से व्याख्यायित करने हेतु समाविष्ट किया गया है। व्याख्यादि से पूर्व मंगलाचार अनिवार्य है, जिस हेतु निम्नांकित श्लोकों की रचना हुई है।

(1) **कृपां समाश्रित्य तदेव सद्गुरोः, सम्पूज्य चरणौ च तदेव सद्गुरोः।**
संस्मृत्य सौम्याकृतिमेव सद्गुरोः, अष्टांगतो भुवि निपत्य नमामि सद्गुरुम्।।

उन्हीं सद्गुरु की कृपा का आश्रय लेकर, उन्हीं, सद्गुरु के चरणों की पूजा कर, उन्हीं सद्गुरु की सौम्य-आकृति का स्मरण कर, मैं उन्हीं सद्गुरुदेव को साष्टांग नमन कर रहा हूँ।

(2) **समारम्भे पूर्वक्रमात्समागतम्, विभूतिपादस्य तदग्रसूत्रम्।**
पतंजलेर्दर्शनिशास्त्रमेत्य, छन्दोनिबद्धं जनवागनूदितम्।।

पूर्वक्रम से चले आ रहे विभूति-पाद के आगे सूत्रों को पातंजलि योग दर्शन शास्त्र से लेकर उनको छन्दोबद्ध कर तथा जनभाषा में अनुवाद कर प्रस्तुत कर रहा हूँ।

(3) **जयतु जयतु देवः सद् गुरु क्लेशहर्ता,**
जयतु जयतु चन्द्रः मोहनो विश्वभर्ता।
जयतु जयतु योगी योगिनां सृष्टिकर्ता,
जयतु जयतु सिद्धः सद्गुरु सिद्धिधर्ता।।

क्लेशहारी उन दिव्यरूप सद्गुरु देव की जय हो, जय हो।

विश्व का भरण करने वाले अथवा विश्वेश उन सद्गुरुदेव, श्री चन्द्रमोहन जी की जय हो, जय हो।

योगियों को बनाने वाले उन योगी श्री सद्गुरुदेव की जय हो, जय हो।

सिद्धियों के धारण करने वाले मेरे गुरुदेव, उन सिद्ध श्री सद्गुरुदेव की जय हो, जय हो।

(4) मंगलाय भवेद् यस्य, ध्यानं स्मरणमेव च।
पातु मां सद्गुरुः सैषः, करोतु विमला मतिः।।

जिन सद्गुरुदेव का ध्यान तथा स्मरण मंगल निमित्त हो, वही सद्गुरुदेव मेरी रक्षा करें तथा मेरी बुद्धि को समुज्ज्वल करें।

–सूत्रं तदर्थसहितंच–स्वार्थ तैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।

(5) समस्त वृत्तीनां क्षयः, ध्येय एकाग्रतोदयः।
समाधिलाभश्चिन्तस्य, प्रोक्तं भवगतार्षिणा।।

सभी विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का नाश हो जाना, एक ही ध्येय का चिन्तन करने वाली एकाग्रता की अवस्था प्राप्त होना, चित्त का समाधि परिणाम है।

(6) सूत्रं तदर्थसहितञ्च– ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ
चित्तस्यैकाग्रता परिणामः।
समाधौ सतिजाते हि, किं वा चित्ते समाहिते।
द्वे वृत्ती ये शान्तोदितौ, निर्भेद भवतस्तु ते।।

अतः इसके बाद फिर जब शान्ति प्रकट हुई तो दोनों ही वृत्तियाँ एक सी हो जाती हैं, तब चित्त का एकाग्रता परिणाम है।

–सूत्रं तदर्थसहितञ्च–एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः।

(7) परिणामों यथा प्रोक्तः समाहितस्य चेतसः।
तथैव पंचभूतानां, इन्द्रियाणां तथा च यै।।

इसी तरह चित्त परिणाम के समान पंचभूतों एवं इन्द्रियों धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम जानना चाहिये।

–सूत्रं तदर्थसहितञ्च–शान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी।

(8) भूतभव्य भवन्नेवम् व्याप्तं धर्मेषु यद् भवेत्।
सैव धर्मी परिख्यातः भगवता श्री महर्षिणा।।

शान्त (अतीत) उदित (वर्तमान) अव्यपदेश्य (भविष्यत्) अर्थात् अतीत, वर्तमान,

भविष्यत् धर्मों में जो व्याप्त रहता है। (आधार रूप से विद्यमान रहता है) वह धर्मी है।

–सूत्रं तदर्थ सहितञ्च–क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।

(9) एकस्यैव पदार्थस्य, परिणामाः क्रमादपि।
अनेकशो भवन्त्युत, सूत्रार्थमिदमेव हि।।

क्रमों का भेद परिणाम के भेद में कारण है। एक ही पदार्थ के क्रम से अनेक परिवर्तन रूप परिणाम होते रहते हैं। यही सूत्र में निहितार्थ है।

–ननु संयमस्य किं फलं तदेव विवृणोत्यग्रिमे सूत्रे।

–सूत्रं तदर्थसहितञ्च–परिणामत्रय संयमादतीतानागतज्ञानम्।

(10) त्रिष्वेव परिणामेषु, संयमाल्लभते योगी।
भूतानागतयोर्ज्ञानं, सूत्रेऽस्मिन्प्रतिपादितम्।।

तीनों परिणामों (धर्म, लक्षण, अवस्था) में संयम करने से अतीत व अनागत (भूत, भविष्यत्) का ज्ञान होता है।

–सूत्रं तदर्थसहितञ्च–शब्दार्थ प्रत्ययाना मितरेतराध्यासात्
संस्कार स्तत्प्रविभाग संयमात्
सर्वभूत रुतज्ञानम्।।

(11) शब्दस्यार्थस्य ज्ञानस्य, अध्यासं परिदृश्यते।
इतरेतरयोर्यद्वत्, मिश्रणं प्रतिभासते।।

(12) तेष्वेव हि विभागेषु, संयमनस्य कारणात्।
सर्वेषां प्राणिनामेवं, शब्दज्ञानं प्रजायते।।

शब्द, अर्थ, ज्ञान इन तीनों का जो एक में दूसरे का अध्यास हो जाने के कारण मिश्रण हो रहा है, उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान हो जाता है।

–सूत्रं तदर्थसहितञ्च–संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

(13) संस्कार साक्षिकरणात्, ज्ञानं पूर्वजन्मनः।
नरो यत्कर्म कुरुते, अनुभवति स इन्द्रियैः।।

(14) प्रचयीभूय संस्काराः बीज रूपेषु सन्त्युत।
अन्तः करणेषु नृणां, समवेता भवन्ति हि।।

(15) संस्कारेष्वेव तेष्वेवं प्रत्यक्षिकरणाद्धि वै।
आयान्ति स्मृति पथं ते, ज्ञानाय पूर्वजन्मनाम्।।

संस्कारों का साक्षात् कर लेने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है एवं इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव करता है उस सबके संस्कार संचित होकर बीज रूप से अन्तःकरण में रहते हैं। उन संस्कारों में संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है।

(16) अन्यनरस्य चित्तस्य, साक्षीकरण कारणात्।
योगी जानाति कस्यचित्, चित्त वृत्तीस्तु संयमात्।।

अन्य पुरुष के चित्त के साक्षात्कार करने से दूसरे की चित्त वृत्ति मात्र का ज्ञान हो जाता है।

–सूत्र तदर्थसहितञ्च–न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।

(17) तच्चिन्तं विषये कस्मिन्, सज्जते रागद्वेषयोः।
नो सः प्रभवति ज्ञातुं, यस्तद् विषयों न हि।।

किन्तु वह ज्ञान आलम्बन सहित नहीं होता-क्योंकि वह योगी के चित्त का विषय नहीं है।

–सूत्रं तदर्थसहितञ्च–कायरूप संयमाद् ग्राह्य शक्तिस्तम्भे
चक्षुः प्रकाशाऽ सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।

(18) शरीर रूपे संयमात्, या ग्राह्यशक्तिः रूपस्य।
निरुध्यते यतोऽन्यस्य, दृग्भ्यां प्रकाशसंयोगः।
तत्समये ह्यतो योगी, अन्तर्हितत्वमाप्नुयात्।

शरीर रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्य शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरे की आँखों से प्रकाश का संयोग न होने पर योगी अन्तर्धान हो जाता है

–सूत्रं तदर्थ सहितञ्च–सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

(19) तीव्रवेगयुतं कर्म, मन्दवेगयुतं च यत्।
कृत्वा संयमनं तेषु, मृत्योर्ज्ञानं प्रजायते।।

(20) तज्ज्ञानमथवापि च, अरिष्टैरपि जायते।
त्रिविधानि ह्यरिष्टानि, लक्षणानि मृतेरपि।।

(21) आध्यात्मिकानि प्रथमानि, तथाऽपराणि,
द्वितीयगानि च तथाऽऽधिभौतिकानि।

अन्त्यानि गणितान्यधिदैविकानि,
एवं ह्यरिष्टानि त्रिविधानि सन्ति।।
–प्रथमं तावदाध्यात्मिकमरिष्टं निगद्यते ततश्च क्रमादन्ये।
(22) छिद्रे पिधाय श्रोत्रयोः, प्राणवायोश्च शब्दस्तु।
श्रृणुते, तच्छृणोति नो, तदरिष्ट माध्यात्मिकम्।।
(23) यमदूतानां नृणां वा, मृतानां सहसैव हि।
दर्शनं बोधनं चैव, अरिष्टमाधिभौतिकम्।।
(24) अकस्मादेव स्वर्गस्य, सिद्धानां दर्शनं तथा।
नक्षत्र–नारायणस्य, दर्शनेऽपि व्यतिक्रमम्।।
(25) एभिररिष्टैस्त्रिभिश्च, प्राकृतैर्मनुजैरपि।
प्रपद्यते ज्ञानमायोः, योगिभिः संयमात्तथा।।

उपक्रम सहित (तीव्रवेग वाले) उपक्रम रहित (मन्दवेग वाले) दोनों प्रकार के क्रमों में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है। ये अरिष्ट तीन प्रकार के हैं–

(1) आध्यात्मिक (2) आधिभौतिक (3) आधिदैविक।

आध्यात्मिक अरिष्ट–वह है जैसे कानों के छिद्र को बन्द करने से जो प्राणवायु का शब्द सुनाई पड़ता है, उसका सुनाई न पड़ना।

आधिभौतिक अरिष्ट–वह जैसे यमदूतों एवं मरे हुए पुरुषों का अकस्मात देखना और मालूम होना मानों सामने खड़े हैं।

आधिदैविक अरिष्ट–वह है कि अकस्मात, स्वर्ग व सिद्धों का देखना या आकाश के नक्षत्र नारायण का व्यतिक्रम दीखना। इन अरिष्टों द्वारा साधारण मनुष्यों को आयुज्ञान हो जाता है। संयम से योगियों को मृत्यु–ज्ञान होता है।

(26) प्रसाद मासाद्य गुरोः, निमित्तोऽद्य प्रसादोऽहम्।
तदाज्ञयैव विरमे, प्रीयताम् मे स सद्गुरूः।।

श्री गुरुदेव का प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त कर, मैं ''प्रसाद'' यहाँ निमित्त हूँ। उनकी आज्ञा द्वारा ही विराम कर रहा हूँ। वे सद्गुरु मुझ पर प्रसन्न हों।

***

जीवन तत्व साधन

(पिछले अंक से आगे)

महात्मा जी ने झोली में से हार निकाला और राजा को देते हुए कहा कि राजन! यह हीरों का हार आपके स्नानघर में टँगा था। जब मैं स्नान करके चलने लगा तो इसको चुरा लिया और झोली में रखकर अपने आश्रम पर ले गया। किन्तु वहाँ पहुँचने पर मुझे दस्त आने लगे और दिन भर दस्त आते रहे। सायंकाल को जब चित्त शान्त हुआ तो मैं इस हार को वापस करने के लिए दौड़ कर आया हूँ। राजा ने कहा क महाराज यह हार क्या वस्तु है। यह सम्पूर्ण राजपाठ आप का है। जब आप हार ले ही गये तो उसे वापस करने की क्या आवश्यकता थी। महात्मा जी ने कहा मैं एक वीतराग उदासी साधु हूँ। मुझे हार आदि से क्या मतलब है। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि मैं इसे क्यों चुरा ले गया ! आप अपने भण्डारी को बुलाइये और पता लगवाइये कि जो भोजन मुझे रात में कराया गया था, वह किस प्रकार का था ? और कहाँ से प्राप्त हुआ था ? भण्डारी को बुलाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि और सब पदार्थ तो राज्य ही के उत्पादन थे। केवल चावल बाहर का था। भण्डारी ने कहा कि भण्डारगृह में चावल अच्छा नहीं था और उस दिन एक चोर पकड़ा गया था और उसके पास चोरी का एक बोरा महीन चावल बरामद हुआ था। वह चावल बहुत बढ़िया किस्म का था। अतः महाराज जी के लिए मैंने उसी चावल के कई व्यंजन पकाये थे।

इस बात को सुनकर महात्मा जी ने कहा कि राजन्! देखा आपके यहाँ चोरी का अन्न खाने से मुझमें भी चोरी की वृत्ति आ गई। जब तक वह चावल मेरे पेट से निकल नहीं गया मेरी बुद्धि शुद्ध नहीं हुई।

यह है पाप का अन्न खाने का परिणाम! इसीलिए वाग्भट्ट ने कहा कि **'हित भुक्'** व **'मित भुक्'** के साथ-साथ **'ऋत भुक्'** भी होना चाहिए और तभी मनुष्य तन व मन से स्वस्थ रह सकता है।

जीवन तत्व साधन करने वालों को उपर्युक्त स्वास्थ्य मन्त्र सदैव याद रखना चाहिए। शरीर की स्वस्थता के साथ-साथ मन की स्वस्थता व स्वच्छता भी आवश्यक है।

जीवन तत्व साधन की क्रियायें एक प्रकार के योगासन हैं। और महर्षि पतंजली ने बताया है कि योगासनों को करने के पहले यम नियम का पालन अवश्य करना चाहिए। यम पाँच हैं– अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। नियम पाँच हैं– अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर, प्रणिधान। इन यम नियमों के सम्बन्ध में हम कभी विस्तार से बतायेंगे। अब आगे जीवन तत्व साधन की क्रियाओं का विधान उनका वैज्ञानिक आधार स्थूल व सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव तथा रोगों से मुक्ति आदि के सम्बन्ध में बतायेंगे।

सर्वोत्तान

(जीवन तत्व साधन की प्रथम क्रिया का नाम है–सर्वोत्तान)

(केवल तीन बार, अधिक से अधिक दो मिनट तक)

योग शास्त्रों में शवासन का बड़ा महत्व बतलाया गया है। सभी प्रकार के आसन व्यायाम के

बाद शवासन करने का विधान है। स्वभावतः जब मनुष्य श्रम करते-करते थक जाता है तो हाथ पैरों को तानकर अंगड़ाई लेता है और उसको इससे आराम मिलता है। थके हुए अंगों को विश्राम देने का ढंग शवासन है। शवासन जितना कहने-सुनने में आसान जान पड़ता है उतना करने में आसान नहीं है। शवासन करते समय सभी अंग-प्रत्यंग ढीले हो जाने चाहिए। मन भी निर्विषय हो जाना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक शवासन से पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता है।

शवासन का परिमार्जित रूप ही सर्वोत्तान है जिसे महाप्रभु जी ने खोज निकाला है इसको करने से शरीर में स्फूर्ति व नव जीवन प्राप्त हो जाता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जीवन तत्व साधन की अन्य क्रियाओं के करने से पहले इसे कर लिया जाता है। इससे अन्य क्रियाओं के करने में आसानी होती है।

सर्वोत्तान में दो क्रियायें हैं- **तनाव व शिथिलीकरण** अर्थात् "Tension & Relaxation"। यूरोपीय योग साधकों ने भी शवासन करने के लिए यही तरीका निकाला है कि चित्त लेट कर एक-एक अंगों को ताना जाय और फिर ढीला छोड़ा जाय। इस तरह एक-एक हाथ, पैर, छाती गर्दन को बारी-बारी से ताना जाय और फिर शिथिल किया जाय। इससे बड़ी शान्ति व आराम मिलता है।

एक बार मेरे कॉलिज में एक योगिराज आये। वे विदेशों में यौगिक क्रियाओं का प्रचार करते हुए भ्रमण कर रहे थे। उनसे लाखों व्यक्तियों ने योग व ध्यान की प्रक्रिया सीखी थी। मैंने उनसे पूछा कि विदेशों में आपके योग साधन की ओर लोग क्यों इतना आकृष्ट हो रहे हैं ? क्या उनमें हिन्दू धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हो रही है ? योगिराज मुस्कराये और बोले कि विदेशों में हिन्दू धर्म की तरफ किसी की रुचि नहीं है। वहाँ के मनुष्यों का जीवन यन्त्रवत् हो गया है और उनको शान्ति का अनुभव नहीं होता है। बिना नींद की गोली खाये उन्हें नींद नहीं आती है। आज विदेशों में नींद की गोलियाँ बनाने वाले कारखानों की वृद्धि होती जा रही है। हमारे योग साधन व ध्यान प्रक्रिया से उन्हें नींद आ जाती है इसी से वे हमारी ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

आज के वैज्ञानिक युग ने मनुष्य के जीवन को इतना जटिल बना दिया है कि उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। सदैव भय, चिन्ता व तनाव युक्त जीवन जीने से हृदय रोग व अन्य नये-नये रोग उत्पन्न हो रहे हैं। यदि मनुष्य शिथिलीकरण की क्रिया को जान जाय तो उसकी अनेक समस्यायें दूर हो जायें और उसे सुखी व तनाव रहित जीवन जीने की कला मालूम हो जाय। शिथिलीकरण से शरीर व मस्तिष्क दोनों को आराम व स्फूर्ति मिलती है। सर्वोत्तान शिथिलीकरण करने का सर्वोत्तम विधान है।

विधि

पीठ के बल चित्त लेट जाओ। यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन तत्व साधन की क्रियायें करने के लिए किसी तख्ते या जमीन पर दरी, कम्बल या कालीन बिछा कर अभ्यास करना चाहिए। यदि आसन कड़ा होगा तो कष्ट मालूम होगा। किन्हीं-किन्हीं विद्वान का मत है कि यौगिक क्रियाओं के करने के लिए आसन कम से कम दो इंच मोटा होना चाहिए।

अतः आरामदेय आसन पर लेट जाओ, हाथों को बगल में डाल दो और सारे शरीर को ढीला छोड़ दो। अब दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में डाल कर और उल्टा करके प्रथम नाभि के पास रखना चाहिए। अब धीरे-धीरे श्वांस लेते हुए फेफड़ों को वायु से भर दो। श्वांस इस तरह लेनी चाहिए कि फेफड़ें नीचे से ऊपर तक वायु से भर जावे और छाती ऊपर उठ जावे। इसके बाद ही सारे शरीर को तानो। फिर श्वांस भरे हुए और शरीर को ताने हुए दोनों हाथों को सिर के पीछे ले जाओ। श्वांस भरना, शरीर को तानना व हाथों को पीछे ले जाना यह तीन क्रियायें कहने में अलग-अलग जान पड़ती है, किन्तु करने में साथ ही की जाती है। हाथ पीछे ले जाने के बाद तुरन्त ही शरीर को धीरे-धीरे ढीला छोड़ते आना चाहिए और श्वांस को धीरे-धीरे निकालते हुए हाथों को सिर के पास से लाते हुए नाभि तक ले जाना चाहिए और फिर बगल में डाल देना चाहिए और शरीर को शिथिल कर देना चाहिए। कुछ सेकिण्ड के बाद यही क्रिया पुनः दुहरानी चाहिए अर्थात् दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में डालकर और उल्टा करके श्वांस भरते हुए व शरीर को तानते हुए हाथों को पीछे ले जाना चाहिए और फिर श्वांस निकालते हुए व शरीर शिथिल करते हुए हाथों को नीचे लाना चाहिए।

यह क्रिया केवल तीन बार करनी चाहिए। एक बार की क्रिया करने में अनुमानतः २० से ४० सेकिण्ड तक लगते हैं। इस क्रिया में जितना ही शरीर में तनाव दिया जावे उतना ही बाद को शरीर ढीला कर दिया जावे। सर्वोत्तान में तनाव व शिथिलीकरण यही दो प्रधान क्रियायें है। इस क्रिया को तीन बार करने के बाद एक मिनट तक हाथों को बगल में डालकर और शरीर को ढीला करके बिल्कुल शान्त होकर पड़े रहना चाहिए उसके बाद जीवन तत्व साधन की दूसरी क्रिया करनी चाहिए।

सर्वोत्तान करने में प्रधानतः दो शारीरिक क्रियायें होती हैं। प्रथम श्वांस को भरना, रोकना व निकालना और दूसरे शरीर को तानना व ढीला करना। इन क्रियाओं से हृदय, फेफड़े, नस नाड़ियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इन अंगों पर पड़ने वाले प्रभाव एवं लाभ को समझने के लिए शारीरिक रचना पर ध्यान देना चाहिए। जब हम हृदय व फेफड़े की बनावट व क्रिया कलाप को समझ लेंगे तो हमें स्पष्ट मालूम होने लगेगा कि सर्वोत्तान को विधिवत् करने में कितना लाभ होता है ?

फेफड़े

यही श्वांस-प्रश्वांस की मुख्य इन्द्रियाँ हैं। ये कोमल छेद भरे और फैलने सिकुड़ने वाले होते हैं। इनका आकार एक मन्दिर के गुम्बद की तरह होता है, जिसका नोकदार सिरा गर्दन की ओर होता है और उनकी तली वक्ष गह्वर में होती है। फेफड़े दो होते हैं। ये वक्ष गह्वर में हृत्पिण्ड के दोनों ओर रहते हैं। इनका रंग कुछ कालापन लिए हुए लाल होता है। इनकी बनावट स्पंज की तरह छिद्रित होती है। कोमल व हल्के होते हैं। दाहिने फेफड़े में तीन और बायें फेफड़े में दो खण्ड (Lobes) होते हैं। प्रत्येक खण्ड और भी कितने ही छोटे-छोटे उपखण्डों में बँटा है। ये दोनों खण्ड झिल्ली से अलग रहते हैं। दोनों फेफड़े मिलकर वक्ष का करीब तीन चौथाई भाग से भी अधिक स्थान घेर लेते हैं।

दोनों फेफड़ों में अनुमानतः सात करोड़ बीस लाख वायु कोष (Air Cells) होते हैं। यदि फेफड़े के कोषों को लम्बाई-चौड़ाई में फैला दिया जावे तो उसका विस्तार चौदह हजार वर्ग फीट में हो जायेगा। इन्हीं के अन्दर धमनी, शिरा और कोशिका नाड़ियाँ भरी रहती हैं। इन्हीं वायु कोषों में हवा भरती है। ये कोष एक माँस-पेशी की चाल से खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोष खुलते हैं तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर इसे भर देते हैं। इन वायु कोषों से मिली हुई असंख्य छोटी नलिकायें हैं। इनके और कोषों के बीच में महीन झिल्लीदार त्वचा का परदा रहता है। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती है। रक्त में तो शुद्ध वायु (Oxygen) नहीं है और श्वास के द्वारा लिए हुये वायु में (Carbonic Acid Gas) नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तो रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के साथ और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से आक्सीजन वायु निकलकर रक्त में चला जाता है। श्वास के साथ जो वायु जाती है उसमें ७६% नाइट्रोजन तथा २१% आक्सीजन और ४% कार्बन और कुछ जल तत्व जाता है। परन्तु प्रश्वास में ५% आक्सीजन कम हो जाता है और ५% कार्बन बढ़ जाता है। इसका फल यह होता है कि रक्त शुद्ध हो जाता है और वायु अशुद्ध, शुद्ध रक्त तो हृदय में जाकर ६ धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु प्रश्वास द्वारा बाहर निकल जाता है। यह कार्य हर समय हुआ करता है।

फेफड़े के अन्दर २०० घन इंच वायु रहती है जिसको (Stationary air) कहते हैं। इसके अतिरिक्त ३० घन इंच वायु बराबर श्वास-प्रश्वास के द्वारा आया-जाया करती है जिसको (Tidal air) कहते हैं। यदि हम दीर्घ प्रश्वास करके रेचक करें तो उस २०० घन इंच (Stationary air) में से १०० घन इंच वायु और बाहर निकल जाती है। उस बाहर निकल जाने वाली वायु को (Supplemental air) कहते हैं। और जिस वायु को कोई नहीं निकाल सकता। यदि यह वायु भी निकल जावे तो मनुष्य की मृत्यु हो जावे। इसके अतिरिक्त यदि हम दीर्घ श्वास लेकर पूरक करें तो १०० घन इंच (Complementary air) और भर सकते हैं। इस प्रकार कुल ३३० घन इंच वायु भरने पर फेफड़े पूर्णतया फैल जाते हैं। किन्तु मामूली श्वास प्रश्वास में अर्थात् केवल ३० घन इंच (Tidal air) लेने में फेफड़ों का कुल भाग नहीं खुलता और दो करोड़ वायु कोषों में वायु पहुँचती है और शेष ५ करोड़ वायु कोषों में आया हुआ रक्त शुद्ध नहीं होता और अशुद्ध रक्त ही सारे शरीर में वापस चला जाता है और अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

हृदय

यह शरीर का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। यह शरीर के अन्दर रक्त का प्रधान केन्द्र है। इस शरीर में दो प्रकार की नाड़ियाँ हैं। एक तो वे जो हृदय से सारे शरीर को जाती हैं और दूसरी वे जो शरीर से हृदय में आती हैं, पहली नाड़ियाँ **धमनी** और दूसरी **शिरा** कहलाती हैं। धमनियाँ हृदय से शुद्ध रक्त को समस्त शरीर में ले जाती हैं, और शिराओं का काम यह है कि वे समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिये हृदय में लाया करें। (क्रमशः)

देवाधिदेव श्री गुरुदेव ही भगवान शंकर

चरण किंकर भुवनेन्द्र झा

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानंद मूर्त्तते
निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे।।

(निरालम्बोपनिषद्)

अर्थात- प्रवण स्वरूप मूर्तिमान सच्चिदानन्द प्रपंच रहित, आलम्ब रहित (सब प्रकार से परिपूर्ण सर्व समर्थ) तेजपुंज भगवान गुरुदेव शंकर को नमस्कार है।

देवाधिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षण:
उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे।।

हे देवाधिदेव आप सर्वज्ञ और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, हे उमारमण, हे भूतेश करुणानिधे आप प्रसन्न होइये।

उपरोक्त श्लोकों में शास्त्रकारों ने श्री सद्गुरुदेव भगवान के स्वरूप की महिमा का बखान मुक्तकंठ से किया है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि श्री गुरुदेव ही प्रणवरूप भगवान् शंकर हैं।

नित्यानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञान मूर्त्तिम,
विश्वातीतं गगन सदृशं तत्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम,
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरुं तं नमामि।।

(शुक्र रहस्य)

अर्थात्- जो नित्य आनंद रूप है, परम् सुखदायक है, जो केवल है (एक मात्र अद्वितीय है), ज्ञान मूर्ति है, विश्व से अतीत है, आकाश के समान व्यापक है असीम है, ''तत्वमसि'' आदि महावाक्यों के लक्ष्य है, जो एक है अर्थात् परम् तत्व है, नित्य है मल रहित है (निर्मल है), अचल है, सब की बुद्धियों के साक्षी है, जो भावातीत है तथा तीनों गुणों से परे त्रिगुणातीत है- ऐसे श्री सद्गुरुदेव भगवान् को नमस्कार है।

इस श्लोक में वर्णित श्री सद्गुरुदेव भगवान् के ईश्वरीय लक्षणों से यह स्पष्ट है कि श्री सद्गुरुदेव और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही परमतत्व और सत्ता के दो नाम हैं। इसकी पुष्टि शास्त्रोकत श्लोक में और भी स्पष्ट रूप से होती है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।

श्री गुरुदेव भगवान् ही ब्रह्मा, विष्णु तथा परम् तत्व भगवान शंकर है। भगवान् शंकर की आद्याशक्ति ब्रह्माविष्णु और महेश्वर के सम्मिलित शुभ संकल्प से आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। योगाचार्यो ने इन्हीं आदि महाशक्ति को प्राणीमात्र में कुंडलिनी महाशक्ति के रूप में व्याप्त माना है। कुंडलिनी सद्गुरुदेव के नियंत्रण में होना स्वाभाविक ही है।

अतः अनादि काल से सुषुप्त कुंडलिनी महाशक्ति बिना सद्गुरु कृपा के जाग्रत नहीं हो पाती।

यह तथ्य हमने श्री गुरुदेव भगवान की कृपा से उनके चरणारबिन्दो में बैठकर श्री सिद्धगुफा पर प्रायः नित्यप्रति तथा इससे जुड़े देश की अनेक शाखाओं पर उनके सानिध्य में तथा आज भी देखने-सुनने में आते हैं। उन दिनों सामूहिक आरती के पश्चात् अंत में निर्वाणाष्टक की पंक्ति ''प्रभोपाहि आपन्नमामीशशंभो'' की ध्वनि उच्चारण में श्री गुरुदेव जी की कृपादृष्टि जिन भाग्यशाली भाई बहनों पर पड़ जाती थी प्रायः अनेकों भाई-बहन ध्यानस्थ हो जाते थे व अपनी स्वरूप स्थिति के अनुसार उनकी विभिन्न भाव-भंगिमायें एवं मुद्रायें दृष्टिगोचर होती थी। वे बाह्य जगत के व्यवहार से ज्ञानशून्य होकर अन्तर्मुखी वृत्तियाँ होने के कारण दिव्यानुभूतियों का आनंद लेते थे। उनके शरीर काष्ठवत् होकर खड़े अथवा बैठे रह जाते थे। खड़े को बैठाना व बैठे को उठाना कठिन हो जाता था। नेत्रों की पुतलियाँ ऊपर की ओर चढ़कर अन्दर घूमती दिखाई देती थी। यह सब श्री गुरुदेव की कृपा से कुंडलिनी जागरण स्वरूप दिव्यानुभूतियों का होना सहज में ही संभव हो जाता था। आज भी श्रद्धावान् निर्मल संस्कारी आत्माओं में उनकी कृपा वृष्टि से ऐसा अनेक स्थानों पर हो रहा है।

सो जानें जिनिदेहु जनाई.......

निर्मल मन जन सोई मोहिपावा.......

श्री गुरुदेव भगवान् अपने मुखारबिन्दु से कहा करते थे कि ''तुम सब अपने यहाँ साप्ताहिक सत्संग रखा करो श्री प्रभुजी की लीला का गुण गान किया करो। सत्संग में उनकी कृपा अनवरत बरसती है।'' सत्संग में ध्यानस्थितियों के अतिरिक्त प्रायः अनेकों गुरु भाई-बहनों की ध्यानस्थिति निरंतर अभ्यास में बहुत अच्छी बनी हुई है वे उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं में अग्रसर होते चले जा रहे हैं। लगभग ३४ वर्ष पहले की एक दो घटनाओं का स्मरण हो आया है कि किस प्रकार महाशक्ति कुंडलिनी सद्गुरु की आज्ञा पालन करती है-

घटना संवत् २०२३ के नव दुर्गाओं की है। उस वर्ष श्री गुरुदेव जी का जन्मोत्सव समारोह विजयादशमी पर्व पर चण्डीगढ़ शाखा में वहाँ के गुरु भाई बहनों ने आयोजित किया था। श्री गुरुदेव जी का कार्यक्रम सहारनपुर में चल रहा था। वहाँ से आश्विन शुक्ला नवमी को चण्डीगढ़ पहुँचना था। सहारनपुर से दुपहर १ बजे अम्बाला छावनी स्टेशन पहुँच कर वहाँ से कार द्वारा चण्डीगढ़ ५ बजे तक पहुँचना था। सहारनपुर से ठीक समय पर श्री गुरुदेव जी साथ में हम व भाई ओमप्रकाश मित्तल आदि १०-१२ भाई बहन रेल में सवार होकर अम्बाला छावनी पहुँचे। वहाँ स्टेशन पर स्वागतार्थ चण्डीगढ़ के सत्संगी कार सहित उपस्थित थे। किन्तु श्री गुरुदेव जी ने अम्बाला छावनी न उतरकर अम्बाला शहर उतरने का मन बना लिया क्योंकि सहारनपुर के सत्संगियों को वहाँ से चण्डीगढ़ की बस पकड़नी थी। इसमें लगभग १ घंटा का अन्तर चण्डीगढ़ पहुँचने में पड़ गया। श्री गुरुदेव जी के चरण कमलों के साक साथ में हम भी थे। चण्डीगढ़ पहुँचने से पहले बाहर एक नहर पड़ी वहाँ श्री गुरुदेव जी ने कहा कि ''लल्ला देर तो हो ही गई है यही नहर है सायंकालीन नित्यकर्म से निवृत होकर चलें, यह ठीक रहेगा'' आज्ञा शिरोधार्य कर हम श्री गुरुदेवजी के कमंडल में नहर से जल भर कर ले आये व नित्य कर्मसे निवृत होकर स्नान आदिकर पुनः कार में चण्डीगढ़ की ओर चल दिये। चण्डीगढ़ में सभी सत्संगी सायं ५ बजे से प्रतीक्षारत, भाई बहन उपस्थित थे। किन्तु

लगभग १ घंटा विलंब हो जाने के कारण वे सभी चिन्तित थे कि क्या कारण है श्री गुरुजी अम्बाला से मिली सूचनानुसार कार से चल दिये हैं और उन्हें अभी तक यहाँ आजाना चाहिये, परंतु १ घंटा हो गया, ७ बजने वाले हैं अभी तक नहीं पहुँचे।

श्री गुरुदेव जी की रहस्यमयी लीला यहीं से आरंभ होती है। चण्डीगढ़ के सत्संगियों में एक सत्संगी प्रोफेसर सूद भी थे। वे उसी वर्ष सत्संग में शामिल हुए थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा सूद परम् श्रद्धालु व सुशिक्षित सुलक्षणा गृहणी थी। उन्होंने श्री गुरुदेव जी के दर्शन भी नहीं किये थे। जिस समय श्री गुरुदेवजी ने दुपहर १ बजे सहारनपुर से प्रस्थान किया था ठीक उसी समय बहन मनोरमा चण्डीगढ़ अपने घर पर ध्यानस्थ हो गई थी तथा अम्बाला शहर उतरने के समय से चण्डीगढ़ से पहले नहर पर कार रुकवा कर नित्यकर्म से निपटना स्नान आदि कर पुन: चल पड़ना यह सब इन्होंने अपने ध्यान में ज्यों का त्यों देखा व अब चण्डीगढ़ सायं ७ बजे पहुँच रहे हैं यह भी जान लिया। इनके पतिदेव घर पर श्री गुरुदेव जी के स्वागतार्थ कार्यक्रम स्थल जाने के लिये बच्चों को तैयार कराने हेतु ध्यान में बैठी पत्नी की प्रतीक्षा कर रहे थे। इनके ध्यान से उठने पर उद्विग्न मन से प्रोफेसर सूद ने अपनी पत्नी को जल्दी ही तैयार होने को कहा। किन्तु बहन मनोरमा ने श्री गुरुदेव जी का समस्त कार्यक्रम सहारनपुर से अम्बाला व चण्डीगढ़ रास्ते में रुक कर पहुँचने तक का ध्यान में देख लिया था। अत: बड़े ही शांत स्वर में पतिदेव को भी गुरुदेवजी के परिवर्तित कार्यक्रम का हाल बताया कि गुरुदेव जी सायं ७ बजे तक पहुँचेंगे। इतना ही नहीं उन्होंने हम सभी श्रीगुरुदेवजी के साथ में आने वाले भाई बहनों के बारे में भी विस्तार से बताया व पूर्व निश्चित् कार्यक्रम में परिवर्तन व इसका कारण भी बताया। बहन के इस कथन की पुष्टि श्री गुरुदेव जी के ठीक सायंकाल ७ बजे पहुँचने से हो गई। यह पहली घटना थी।

दूसरे दिन अर्थात् विजयादशमी के सायंकालीन सत्संग में बहन मनोरमा की ध्यान स्थिति विचित्र हो गई। वे देरी से आने के कारण पीछे ही बैठ गई थी व ध्यानस्थ होते ही उनके चेहरे पर अलौकिक तेज चमक उठा। वे स्थान से उठी व बन्द नेत्रों से ही दोनों हाथ फैलाये धीरे-धीरे सत्संगियों के बीच से चल कर रास्ता खोजती हुई श्रीगुरुदेव जी के सामने जा पहुँची। सत्संग रात्रि ११ बजे समाप्त हुआ व मनोरमा बहन उसी प्रकार श्री गुरुदेव जी के सामने बैठी रही। जैसे ही श्री गुरुदेव जी आसन से उठे वह भी ध्यान में ही बन्द आखों उठ खड़ी हुई व दोनों हाथों से रास्ता रोक कर खड़ी हो गई। देखिये श्री गुरुदेव जी की चमत्कारिक लीला कि यदि श्री गुरुदेवजी बैठ जाते तो बहन मनोरमा भी बैठ जाती यदि श्री गुरुदेव जी आगे चलते तो उतनी ही दूरी पर वह भी आगे बढ़ती यदि श्री गुरुदेव जी चक्कर काटकर इधर उधर चलते तो वह भी उसी प्रकार उसी रास्ते पर चक्कर काटकर चलती रहती। इसी तरह रात्रि का लगभग १ बज गया। श्री गुरुदेव जी ने हमारी ओर देखकर किसी प्रकार ऊपर कमरे में जाने का संकेत किया तो हम उन लीलाधारी का संकेत पाकर उनका कमंडल व छड़ी लेकर सत्संगियों के बीच से एक तरफ का रास्ता निकालकर उस रास्ते पर आने का श्री चरण कमलों में मूक निवेदन उसी प्रकार किया जैसा संकेत हमें उन लीलाधारी ने किया था। श्री गुरुदेव जी व हम बीचों बीच से एक किनारे से पंडाल से निकल कर भाई ओमप्रकाश शर्मा जी के मकान पर जहाँ

ऊपर के कमरे में श्री गुरुदेव जी का निवास था जा रहे थे कि बहन मनोरमा बंद आखों से ही श्री गुरुदेव जी की तरफ दोनों हाथ फैलाते हुए रास्ते के बीच में पड़े हुए तख्त को छलांग लगा कर पार कर मकान की ओर तेजी से बढ़ने लगीं। किन्तु हमारे नटवर नागर श्री गुरुदेव जी, इससे पहले कि बहन मनोरमा रास्ता रोकती, छलांग लगाकर एक-एक दो-दो सीढ़ियों पर चढ़ते हुए ऊपर कमरे में जा पहुँचे। पीछे-पीछे हम भी चढ़े जा रहे थे। कमरे में पहुँचते ही श्री गुरुदेव जी पलंग पर विराजमान हो गये व मुस्करा कर देखने लगे कि बहन मनोरमा ने आकर श्री चरण कमलों में प्रणाम किया। श्री गुरुदेव जी के कर कमलों का सिर पर स्पर्श पाकर वे जाग्रत हुईं और प्रसाद पाकर घर गईं। रात्रि के डेढ़ बजे गये थे।

तीसरे दिन रात्रि के सत्संग में आरती पूजन के बाद बहन मनोरमा पुन: ध्यानस्थ हुईं व उसी स्थिति में पहुँच गईं। इन घटनाओं को सुनकर चण्डीगढ़ विश्व विद्यालय के प्रोफेसर व छात्र छात्रायें भी शंका निवारण हेतु वहाँ एकत्र थे। त्रिकालदर्शी अन्तरयामी श्री गुरुदेव जी ने उनके मनोभावों को जानकर प्रवचनों के बाद शंकालुओं की शंका निवारण हेतु बहन मनोरमा के बंद नेत्रों की पलकें उलट कर ऊपर चढ़ाकर अन्दर की ओर उलटी हुई पुतलियों की ओर संकेत किया जो ध्यान की उच्चतम व प्रगाढ़ स्थिति को प्रकट करती थी। साधारण स्थिति में पुतलियों का इस प्रकार उलटना संभव नहीं है। सत्संग में आये शंकालुओं की शंका का निवारण तो हो गया किन्तु अब उनके मन में जिज्ञासा ने स्थान ले लिया। सभी ने कर बद्ध प्रार्थना की कि बहन मनोरमा की उस स्थिति का वैज्ञानिक आधार क्या है ? श्री गुरुदेव जी ने इस विज्ञान को समझाने से पहले एक और लीला दिखलाई। उन्होंने बहन मनोरमा को 'शक्ति' सम्बोधित करते हुए कहा, "शक्ति जाओ पंडाल में बैठे श्याम नाम के व्यक्ति को उठा लाओ," भगवान शंकर रूप सद्गुरुदेव का आदेश शिव की शक्ति (बहन मनोरमा की जाग्रत कुंडलिनी महाशक्ति ने तुरंत पालन किया। वे चली किन्तु उस नाम के दो व्यक्ति सत्संग भरे पंडाल में थे। अत: शक्ति बन गयी बहन मनोरमा ने अपने दायें हाथ की उंगलियों से हारमोनियम बजाने वाले को संकेत करते हुए बंद नेत्रों से श्री गुरुदेव की इच्छा जाननी चाही। श्री गुरुदेव भगवान की इच्छा दतिया (म० प्र०) से जन्मोत्सव में भाग लेने आये हुए हमारे भाई श्री श्याम सुन्दर 'श्याम' जो हारमोनियम बजाकर श्री गुरुदेव जी को भजन सुनाते थे उनको ही उठा लाने की थी। भगवान शंकर की शक्ति ने उस स्थान पर बैठे हुए भाई 'श्याम' जी के सिर पर हाथ रखकर उठने का संकेत किया व उन्हें श्री गुरुदेव के श्री चरण कमलों में उठा कर ले आईं।

इसके पश्चात् श्री गुरुदेव जी ने उन शंकालुओं की शंका का निवारण वैज्ञानिक रूप से समझाते हुए किया। जिसका सारांश यह है कि सद्गुरु कृपा से बहन मनोरमा की कुंडलिनी जागरण होने के फलस्वरूप मनोवृत्तियाँ अर्न्तमुखी हो गई थी और इस अवस्था में कुंडलिनी महाशक्ति अपनी नियंत्रक सद्गुरु सत्ता के विश्व व्यापक अखंड मंडलाकार तेज को पहचान कर उनका अनुसरण करने में सफल हुई थी।

***

मंत्र-जप का रहस्य

प्रोफेसर आचार्य चन्द्रहास शर्मा, दिल्ली

योगी जब बुद्धि और चित्त से आत्मा को अलग अनुभव करने लगता है तब उसमें सभी प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होने लगती है। प्रकृति के उपादान महत्त्व से आत्मा का प्रकाश पाकर जो प्रतिबिम्ब बनते जाते है। उन्ही से बुद्धि या चित्त की सत्ता प्रतीत होती है। इनके द्वारा क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का विस्तार होकर कर्मेन्द्रियों के साथ बुद्धि और आत्मा के संयुक्त होने से कर्तव्य और ज्ञानेन्द्रियों के साथ आत्मा के संयोग से भोक्तव्य भाव संगठित होकर सुख-दुःख, राग-द्वेष, मोह-ममता, अहम्-इदम् की सृष्टि होने लगती है। इस मायाजाल मे उलझकर सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान आत्मा अल्पज्ञ और काल, कर्म, नियति तथा स्वभाव के वश मे होकर अल्पशक्ति वाला बन जाता है। ध्यान और समाधि के सतत अभ्यास से जब यह जीवात्मा प्रकृति के प्रपंच से मुक्त होकर आत्म सत्ता के राज्य मे आरूढ़ होता है तो सर्वप्रथम उसमे मंत्र की शक्ति का उदय होता है। व्यष्टि चित्त को समष्टि चित्त मे लीन करने के लिए गीता मे योग योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण ने इसीलिए उपदेश दिया है–

'मच्चित्त: सततं भव।' 'मच्चित्त: सर्व दुर्गाणिमत्प्रसादात् तरिष्यसि।' अर्थात् व्यष्टिचित्त को समष्टिचित्त (श्रीकृष्ण के चित्त में) में लीन कर देने से सारे झंझट दूर हो जायेंगे। ईश्वर परमात्मा तथा सच्चिदानन्द शक्ति की कृपा से अल्पज्ञ जीव सर्वा और सर्वशक्तिमान हो जायेगा। उस अवस्था मे पहुँचकर वह अपने शरीर और बाह्य दृश्य जगत् मे परिवर्तन करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेगा। अपनी इन्द्रियों और उसके विषयों की गुलामी करने वाले कुकुरमुत्तों की तरह पैदा होने वाले नेता समाज में विकृति तो ला सकते हैं, कोई परिष्कार लाना उनकी सामर्थ्य के बाहर है। महात्मा गांधी यत्किंचिद परिवर्तन ला सके अथवा महर्षि दयानन्द ऊपरी परिवर्तन ला सके रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द मे आन्तरिक शक्ति जगा सके। उसके मूल में उनकी स्वयं की साधना थी। जिसमे उन्होंने अपने व्यष्टि मन, बुद्धि और चित्त को समष्टि चित्त मे लीन कर शक्ति प्राप्त की थी। जब व्यक्ति उस स्थिति मे आरूढ़ हो जाता है तो उसका प्रत्येक शब्द मंत्र बन जाता है। मंत्रों मे सार्वभौम शक्ति होती है। वह शक्ति महत्व (समष्टि बुद्धि) से प्रकट होती है। मंत्र की शक्ति वस्तुतः समष्टि चित्त की ही शक्ति होती है। मंत्र शब्द की निरुक्ति है– **मननात् मंत्र:।** अर्थात् मंत्रप्रतिपादक देवता की शक्ति का स्वायादिष्ट देवता संप्रयोग: तथा **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** के नियमानुसार भावना पूर्वक जप करने को मनन कहा जाता है। भजन युक्त वर्णों को मंत्र कहा जाता है। मंत्र के जपने से मंत्र का देवता प्रकट हुआ करता है। सुख-दुःख और पाप-पुण्यों का फल देने वाले देवता के अनेकों प्रकार है। इसीलिए मंत्र भी नाना प्रकार के है। उनकी उपासना की भी अनेकों पद्धतियाँ है। **रुद्रयामल तंत्र** मे मंत्र का निर्वचन इस प्रकार किया गया है–

'मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।

यतः करोति संसिद्धो मंत्र इत्युच्यते ततः।।
यमभूतादि सर्वेभ्यो भयोभ्योऽपि सुरेश्वरि।
त्रायते सततं चैव तस्मान्मंत्र इतीरितः।।
मननात् त्राणनाच्चैव मद्रूपस्याव बोधनात्।
मंत्र इत्युच्यते सम्यक् मदधिष्ठानतः प्रिये।।

अर्थात् मंत्र में दो गुण है- मनन करना और त्राण करना। जिसके द्वारा दिव्य ज्योतिर्मय अपरिमित तेजोमय आत्मतत्व का मनन हो तथा जिससे प्रत्येक अवस्था में साधकों की भय से रक्षा हो तथा जिसके चिन्तन, मनन और ध्यान करने से शिव सायुज्य की उपलब्धि हो उसे मन्त्र कहते हैं। भगवान सदाशिव कहते है कि मैं मंत्र के अन्दर अधिष्ठित रहता हूँ। ज्ञानी जन मंत्रजप द्वारा मुझसे मिला करते है।

भगवान सदाशिव आद्या शक्ति महेशानी को मंत्रजप की सफलता का विज्ञान समझाते हुए कहते है कि मंत्र परमशक्ति द्वारा उन्ही के शरीर रूप में प्रकटित हुए है। उनकी शक्ति दीक्षित साधकों के समक्ष ही श्री सद्गुरु की कृपा के द्वारा प्रकट होती है। बिना दीक्षा ग्रहण किये जो पुस्तकों मे पढ़कर मंत्रजप कर लेते है वह केवल वाणी विलासमात्र होते है। उनके जप करने से विशेष लाभ नहीं होता। शास्त्र का आदेश है-

'अदीक्षिताः ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
देवि दीक्षा विहीनस्य न सिद्धिर्नच सद्गतिः।।

अर्थात् बिना समर्थ सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त किये जो लोग जप, यज्ञ, पूजा आदि क्रियायें करते हैं उन्हे उन काम्य कर्मों में न तो सफलता मिलती है और न उनको सद्गति ही होती है। गुरु भी ऐरेगेरे नत्थू खेरे हर कोई नहीं हो सकते। उनकी योग्यता और अधिकार शास्त्रानुसार होना चाहिये। जिनको समाधिसिद्ध है तथा परमसत्ता से जिन्हे आदेश प्राप्त हो गया है वे ही दीक्षा देने के अधिकारी है। उनसे दीक्षा पाकर साधक कृतकृत्य होता है। धन के लोभ से या चेला-चेलियों की फौज खड़ी करने की भावना से गुरु बनकर दीक्षा देने वालों को भगवान शिव का शाप मिलता है। जिससे उनको मनुष्य शरीर से भी नीचे गिर जाना पड़ता है। क्योंकि वे स्वार्थान्ध होकर भगवान शिव की दीक्षा मर्यादा का उल्लंघन करते है। देव यदि शास्त्र मर्यादा की रक्षा नहीं करेंगे तो शास्त्र लोप हो जायेगा। अतः उन्होंने शास्त्र मर्यादा की रक्षा के लिए दण्डव्यवस्था की है।

मंत्र की शक्ति सद्गुरु की सामर्थ्य तथा शिष्य के मन की एकाग्रता से प्रकट होती है। यदि शिष्य गुरु मे मनुष्य शरीर की बुद्धि रखता है तो वह सद्गुरु तत्व से कोसों दूर खड़ा है। उसे न मंत्र से कुछ होने वाला है और न पूजा पाठ से। आनन्दकन्द श्री सद्गुरुदेव के स्थूल शरीर के अव्यक्त भावापन्न हो जाने पर बहुत से दीक्षित भाई भी यह कहते हुए सुने गये है कि अब तो गुरूजी नही रहे, चलो कोई दूसरा गुरू कर लें। 'गुरु कोई पति नही है कि पति मर जाय तो देवर को बैठ जायें या दूसरा पति कर लें। सद्गुरु सत्ता कभी मरा नही करती। वह तो मर्त्यों को भी अमरत्व प्रदान करने की सामर्थ्य रखती है। उसी प्रकार मंत्र केवल वर्णों की संहतिमात्र नही है। उन वर्णों मे ध्वनि, नाद,

बीज, बिन्दु और ज्योति अवयक्तावस्था में विद्यमान हैं। देवता भी साधक के मन की भावनानुसार रूप परिवर्तन करने वाला बहुरूपिया नहीं है। उसकी शक्तियाँ और कलायें, वर्ण, प्रभा सब कुछ कार्यभेद से निश्चित एवं स्थायी है साधक को अपने मन को उसके अनुसार बनाना है न कि देवता को अपने मन के अनुसार बना लेना है। सिद्ध गुरू का दिया हुआ बीज मंत्र ही देवता का शरीर होता है। समर्थगुरु शिष्य के हृदय में बीजमंत्र का वपन कर देता है। शिष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति सतत अभ्यास और तीव्र वैराग्य के जल से उसको सींचकर मंत्र के देवता को प्रकट कर लेता है। ध्यान में साधक को जप के प्रभाव से मंत्र के देवता के दर्शन होने लगते हैं। जो साधक गुरू, मंत्र और देवता में मन और प्राणों की एकता द्वारा ऐक्य स्थापित कर लेते हैं। उन्हें शीघ्र समाधि लाभ होता है। जब तक देवता, गुरु मंत्र तथा मंत्र जपने वाले में शिवत्व की भावनारूप एकता नहीं होती तब तक सिद्धि नहीं मिला करती। सभी प्रकार के मंत्रों के आदिगुरु भगवान सदा शिव ही हैं। उन्हीं की कृपा से मंत्र सिद्धि होती है। मंत्रदाता और मंत्रग्रहीता में जब शिव शक्ति संवलित होती है तो मंत्र चैतन्य हो जाता है। चैतन्य मंत्र का जप करने से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो उठती है। चैतन्य मंत्र के जप मात्र से शिष्य गुरुभक्ति की तीव्रता के फलस्वरुप इष्ट देवता के दर्शन करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। गुरू के शरीर, मन या बुद्धि की कोई शक्ति शिष्य का कल्याण नहीं किया करती। पराशक्ति जब गुरू को वरण करती है तभी वह सद्गुरु होता है। सद्गुरु से ही शक्तिपात सम्भव है। एक बार बालबुद्धि से मैंने श्री सद्गुरु से जिज्ञासावश पूछा था- गुरुदेव ! सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती है। और शक्तिपात कैसे होता है।' सद्गुरुदेव ने रहस्यभरी मुस्कान से उत्तर दिया-क्या तुम्हारा संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) सिद्ध हो चुका है ? मैंने उनके उत्तर से समझ लिया कि बिना संयम सिद्ध हुए इनकी कल्पना करना भी मूर्खता है। बाकी लोग तो बुद्धि चातुरी से लोगों को अच्छी तरह ठगने की कला के गुरु अवश्य बन जाते हैं। आगमों में ऐसे धोखा देने वाली बुद्धि के धनी चतुर लोगों को गुरु नहीं वरन् 'गरु' कहा है। जो समाधि अवस्था में भगवान परमशिव की कृपा शक्ति को पाये बिना व्यापार के लिए गुरुपने का धन्धा करते हैं वे 'गरु' अर्थात् बैल (पशु) कहे गये हैं। जिस प्रकार बैल दूसरों का बोझा ढोकर उनका कर्ज उतारता है उसी प्रकार वे भी बैल बनकर ब्याज सहित अपने तथाकथित चेले-चेलियों का कर्जा चुकाने के लिए पशु योनि में जायेंगे। आजकल ऐसे गुरु गली-गली में पैदा हो गये हैं। पैसा लगै ना फिटकरी, और रंग चोखा आवै'-इस चक्कर में बिना सच्चे शिष्य बने लोग प्रणाम, माला, प्रतिष्ठा व माल-टाल पाने की अभिलाषा से स्वयंभू गुरू बन जाते है। योगमार्ग में ऐसे गुरुओं की शास्त्रकारों ने कठोर निन्दा की है। क्योंकि वे चेले भी अपनी ही ब्राण्ड के अपने जैसे धोखेबाज ही पैदा करते हैं। हम तो डूबेंगे सनम, तुमको भी लेकर डूबेंगे। इन चक्करों से बचने के लिए मंत्र, गुरु और देवता में अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। कुलार्णवतंत्र में उल्लेख है-

'यथा देवस्तथा मंत्रो यथा मंत्रस्तथा गुरुः।
देवमंत्र गुरूणाञ्च पूजाया: सदृशं फलम्।।

यथा शिवस्तथा विद्या यथा विद्या तथा गुरुः।
शिवविद्या गुरूणाञ्च पूजाया: सदृशं फलम्।।

अर्थात् देवता, मंत्र तथा गुरुदेव एकरूप हैं। उनके पूजन का एक जैसा फल मिलता है। यह फल कुण्डलिनी जागरण है। इसलिए अपने कल्याण चाहने वाले- साधक को गुरु देव का पूजन, मंत्रजप तथा देवता का ध्यान नित्य नियम से एक साथ करना चाहिये। मंत्र को किसी के सामने प्रकाशित करने से शक्ति और आयु नष्ट होती है। शास्त्र की आज्ञा है कि यदि आवश्यकता पड़े तो अपने गुरुदेव का नाम भले बता दे, किन्तु अपनी साधना प्रणाली और गुरुमंत्रों को गुप्त रखें कभी प्रकाशित न करें। वैसे गुरु के नाम का भी डंका पीटना ठीक नहीं, जैसे कुलीन स्त्री अपने पति का नाम नहीं लेती। इस प्रकार अन्तर्जगत में ही प्रेम को विकसित करने का विधान ही भारतीय मर्यादा है। जब ग्राम की चतुर नारियों ने सीता जी से राम के सम्बन्ध में प्रश्न किया-'सखी कहहुँ को आहिं (ये) तुम्हारे ! सीताजी ने बिना नाम बताये श्री राम से अपने सम्बन्ध का परिचय इस प्रकार करा दिया-'**बिधुबदनीं बिधु अंचल ढांकी।**

पियतन चितहिं भौंह कर बांकी।।

दृष्टि की भंगिमा से ही श्री सीता जी ने अपने पति का परिचय दे दिया ऐसे ही शिष्य की दृष्टि गुरु का स्वत: परिचय दे देती है। गिद्ध दृष्टि वाले (लोभी, ढोंगी, कामी) गुरु के शिष्य की दृष्टि भी गिद्ध दृष्टि हो जाती है। जैसे गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता जाता है। किन्तु ऊँचाई पर पहुँचकर भी उनकी दृष्टि सड़ी हुई लाशों को भूमि पर तलाशने में लगी रहती है। इसी प्रकार अनेक शास्त्रीय दृष्टाओं का व्याख्यान देने में कुशल होने पर भी जिनका मन कंचन और कामिनी में आसक्त है और वे अपने शिकार की तलाश में ही अपनी विद्या और बुद्धि का उपयोग करते रहते हैं, वे गिद्ध दृष्टि वाले कहे जाते हैं। जो समाहित चित्त वाले गुरु के शिष्य होते हैं, उनकी दृष्टि भी निश्चल हो जाती है। भृंगी कीट न्याय से गुरुदेव का ध्यान करने से शिष्य में वैसे ही गुण आते हैं जैसे गुण गुरु में होते हैं। इसलिए गौतमीय तंत्र में कहा गया है कि-

गुरुं प्रकाशयेद् धीमान् मंत्रं नैव प्रकाशयेत्।
अप्रकाश प्रकाशाभ्यां क्षीयते सम्पदायुषः।।

गुरुप्रदत्त मंत्र को गुप्त रखने से ही मंत्र शक्ति सम्पन्न बनता है। प्रकाशित कर देने पर साधक श्रीहीन होकर अकाल काल कवलित हो जाता है।

मंत्र की जाग्रति, जपादि क्रियाओं द्वारा चित्त में होती है इसलिए शिवसूत्र में '**चित्तं मंत्रः**' ऐसा कहा गया है। आत्म चैतन्य जब चित्त पर प्रतिभासित (Reflect) होता है तो वही मंत्र शक्ति के रूप में नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियों के रूप में वर्णमय भासित होने लगता है। वर्णों को मातृका भी कहा जाता है। उनकी शक्ति को मातृका शक्ति कहते हैं। मातृकाओं से ही ज्ञान होता है। वाक्शक्ति वैखरी वाणी की क्रिया से वर्णों में सन्निहित शक्ति का स्फोट करती है। यही शक्ति मंत्र शक्ति का आधार है। जप करने में वाणी, मन तथा बुद्धि का सम्बन्ध होता है। मध्यमावाणी में इच्छाशक्ति का सम्बन्ध है। पश्यन्ती वाणी में मन और बुद्धि विषयाकार वृत्ति रहित पूर्ण एकाकार

होकर ध्यान के द्वारा ज्ञान की भूमिका पर आयत्त होते हैं। इसके परे परावाणी का क्षेत्र है। यहाँ शुद्ध आत्मतत्व है। चित्त का आधार महतत्व है जिसे-हिरण्यगर्भ (समष्टि) बुद्धि कहते हैं। चित्त की शक्ति का मूल यही महत्तत्व है। जिसे मंत्रजप द्वारा जाग्रत कर व्यष्टि में क्रिया शक्ति की तरंगें उत्पन्न की जाती हैं। मंत्र के अर्थ की भावना चित्त के स्तर पर करने पर मंत्र में शक्ति संचार होता है। गुरु प्रदत्त मंत्र के जप द्वारा साधक चित्त को प्रकाशित करने वाली आत्मशक्ति के जागरण का प्रयत्न करता है। शक्ति जागरण हो जाने पर मंत्र के देवता का ध्यान करते ही शरीर में कम्पन्न, कण्ठ में अवस्तम्भ और अश्रुपात आदि मंत्र सिद्धि के सात्विक भाव प्रकट होने लगते हैं। शक्ति ज्ञानरूप में चित्त के आश्रय से रहती है। गुरुप्रदत्त मंत्र के द्वारा वही शक्ति सद्गुरु सत्ता के संकल्प से संतों ने मंत्र जप की सफलता के विषय में कहा है- **'गुप्त अकाम निरन्तर भाव सहित सानन्द भाव सहित जपते तुरत पावत परमानन्द।** मंत्र के वर्णों में प्राण प्रतिष्ठित होकर शिष्य के द्वारा वही शक्ति अपना अधिष्ठान बनाती है। चित्त में ही जप और पुरश्चरण के फलस्वरूप देवता का रूप धारण कर वह चितिशक्ति ही साधक के सम्मुख उपस्थित होकर अभीष्ट वर देकर कृतार्थ कर देती है। साधना में तत्पर रहकर साधक उस शक्ति को चित्त से ऊपर चिदाकाश और परमाकाश तक खेचरी सिद्धि के द्वारा लेजाकर परमतत्व के बीज ॐ से युक्त होकर योग के चरम लक्ष्य मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है। इसीलिए आगमों में यत्रतत्र यह बार-बार कहा गया है कि-

जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः न संशयः।'

अर्थात् मंत्रजप से ही सिद्धिलाभ होता है। इस सिद्धान्त में संशय की गुंजायश नहीं है।

मातृका शक्ति या वर्णमाला के हर वर्ण में शक्ति अधिष्ठित है। वर्णों के ऊपर अनुस्वार लगाकर वर्णों को मंत्र बना दिया जाता है। हमारे सूक्ष्म शरीर में कुण्डलिनी मार्ग के षट्चक्र माने जाते हैं। मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरक, अनाहत-स्वाधिष्ठान और आज्ञाचक्रों में पचास वर्णों का अनुस्वार युक्त होकर मंत्ररूप में समावेश है। ये मातृकायें हमारे नाड़ी-चक्र द्वारा प्राण और मन तथा बुद्धि से संयुक्त होकर उस प्रकार की शक्ति जाग्रत कर देती हैं। अ, आ, इ, ई, उ ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः = सोलह स्वर विशुद्ध चक्र में हैं। इन स्वरों का सम्बन्ध चन्द्र (इड़ा) नाड़ी से है। क ख ग घ ङ से लेकर प फ ब भ म पर्यन्त पच्चीस वर्णों का सम्बन्ध सूर्य (पिंगला) नाड़ी से है। य, र, ल, व, श, ष, स, ह और क्ष का सम्बन्ध सुषुम्ना नाड़ी से है। सुषुम्ना नाड़ी में स्थित वर्णों के ऊपर अनुस्वार युक्त (शक्ति सम्पन्न) बना देने से वे पंच तत्वों के बीज मंत्र बन जाते है। तथा लृं पृथ्वीतत्व का बीजमंत्र है। **वं** जल तत्व का, **रं** अग्नि का, यं वायु का हं आकाश का तथा **हँ** मन का तथा सँ बुद्धि का। इन्हीं में स्वरों का संयोग करने पर शक्ति बीज बनते हैं। जैसे ऐं सरस्वती बीज **ह्रीं** माया बीज (लक्ष्मी बीज) **क्लीं** महाकाली बीज **श्रीं** त्रिपुर सुन्दरी का बीज तथा ॐ ब्रह्म बीज है। कामनायुक्त सकाम साधना में प्रयोग में आने वाले मंत्रों में **प्रणव, बीज, कूट,** अक्षर और पल्लव-ये पाँच अंग होते हैं। पंचांगयुक्त मंत्रजप से लौकिक कार्य सिद्ध होते हैं। जैसे ॐ क्लीं कृष्णाय नमः। इसमें ॐ प्रणव, क्लीं शक्तिबीज कृष्ण कूट मंत्र के वर्ण अक्षर तथा नमः पल्लव है। मंत्रजप का तरीका न आने पर वर्षों जप करते रहने पर हम जहाँ के तहाँ खड़े रहते हैं। इसलिए मंत्र जप विधि सीखें।

***

चित्त-निग्रह

(लेखक-स्व० श्री मगनलाल देसाई)

जीवात्मा को कर्त्ता और भोक्ता बनाने वाला चित्त ही है। शरीर चाहे जो क्रिया करे, परन्तु उस क्रिया में यदि चित्त का साथ न हो तो उससे मनुष्य को कर्तृत्व नहीं मिलता। शराब पीकर बेहोशी की हालत में खून करके उसके दोष से भी खूनी छूट जाता है। भाँग पीकर बकने वाले आदमी को होश आने पर इस बात की खबर ही नहीं रहती कि वह क्या बक गया था; क्योंकि दोनों प्रसंगों में चित्त नशे से परवश होकर केवल संयोग वश कर्म करता है। जो कुछ हम लोग चित्त से करते हैं, वही किया हुआ समझा जाता है और चित्त से न किया हुआ कार्य किया नहीं माना जाता। शरीर जड़ है; इसलिये वह स्वयं कुछ कर सके, ऐसी बात नहीं है। विशुद्ध आत्मा नित्य असंग और चेतन है, इसलिये वह भी कुछ करता नहीं। शरीर और आत्मा दोनों के बीच का चित्त ही आत्मा से शक्ति प्राप्त कर आत्मा के साथ जुड़कर कर्म करता है और जीवात्मा को कर्ता-भोक्ता बनाता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में ले जाने वाला चित्त ही है। चित्त सहित चेतन का शरीर में प्रवेश करना ही 'जन्म' कहलाता है; और वैसे ही शरीर छोड़ना 'मरण' कहलाता है।

जैसे झूठ बोलना और झूठ से बचना-ये दोनों शक्तियाँ मनुष्य में होती हैं, जैसे बाण छोड़ना और बाण को वापस लेना-ये दोनों शक्तियाँ एक ही मनुष्य में होती हैं, उसी प्रकार विचार और अविचार-ये दोनों शक्तियाँ चित्त की हैं। चित्त विचार करके करता है तो शुभ करता है और अविचार से करता है तो अशुभ करता है। शरीर की क्रिया रोकने से नहीं रुकती, जब तक चित्त न रोका जाय। हमको जिस प्रकार का जीवन वहन करना है, उसी प्रकार का चित्त बनाना पड़ेगा। जैसे मूर्ख हाँकने वाला गाड़ी, घोड़े और बैठने वाले को गड्ढे में जा गिराता है और बुद्धिमान् हाँकने वाला निश्चित स्थान पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार मूर्ख चित्त शरीर, इन्द्रियों और आत्मा को विपत्ति में डालता है और विज्ञ चित्त उन्हें निश्चित स्थान पर ले जाता है। न तो शरीर में कोई फेर-फार होता है, न आत्मा में होता है; होता है तो वह चित्त में ही होता है। शरीर और आत्मा में फेर-फार की इच्छा भी बेकार है; क्योंकि कर्ता चित्त है। इसलिये सारे शास्त्र, सारे धर्म इस चित्त को कल्याण-मार्ग पर चलाने के लिये ही अनेकों उपाय बतलाये हैं। चित्त को कल्याण-मार्गपर लेजाने की युक्तियाँ भी अनेक हैं। इस प्रकार रास्ते विभिन्न होने के कारण धर्म के रूप भी अनेक हो गये। शरीर नश्वर है; और परमात्मा है ही; परन्तु चित्त का निग्रह किये बिना कल्याण नहीं होता, यह तो सर्वसम्मत है। जो शाश्वत है, वह परमात्मा है। नास्तिकों के मत में भी कोई न कोई शाश्वत पदार्थ है ही। इन्द्रियों का भोग यदि किसी सिद्धान्त में इष्ट माना भी जाता हो, तो भी वह अन्ततः इन्द्रिय-निग्रह के लिये, चित्त की शान्ति के लिये ही है। सुख की इच्छा रखने वालों को चित्त पर दृष्टि रखनी चाहिये। जैसे ऊधमी बालक की माँ बराबर ध्यान रखती है कि बालक कहाँ गया, उसी

प्रकार जिज्ञासु पुरुष को बार-बार यह खोज रखनी चाहिये कि चित्त-देवता कहाँ विराज रहे है। चित्त के ठहरने के दो स्थान है-एक इन्द्रियों के भोग और उनके लिये प्रवृत्ति तथा दूसरा आत्मा और उसके लिये प्रवृत्ति।

जैसे जल का प्रवाह स्वभावत: नीचे की ओर होता है, जैसे वायु की गति स्वाभाविक ही वक्र होती है और जैसे अग्नि की शिखा स्वभावत: ऊपर की ओर उठती है, उसी प्रकार चित्त का स्वाभाविक प्रवाह इन्द्रियों के द्वारा भोग की ओर होता है। जैसे पतंग का स्वाभाविक पतन अग्नि की ओर होता है और उसके द्वारा नाश की ओर जाता है। जैसे नदी का प्रवाह स्वभावत: समुद्र की ओर होता है और वह अपने नाश के लिये होता है, उसी प्रकार चित्त का प्रवाह भी इन्द्रियों का और देह का नाश ही करता है। परन्तु यह उसका स्वभाव है। जैसे भोग की ओर जाने की वृत्ति चित्त की है, वैसे ही भोग की ओर से लौटने की शक्ति भी उसमे है। निगृहीत चित्त भोग से लौटता है और अवश चित्त भोग मे फँसा रहता है। चित्त की सामर्थ्य पर बड़प्पन और छोटापन, दिव्यता या पशुता का भेद निर्भर है। निगृहीत चित्त ही देवता है और भोग मे भटकने वाला चित्त ही पशु है। निगृहीत चित्त की परम हितकारी बन्धु है और भोगों में विचरने वाला स्वच्छन्द चित्त सबसे बड़ा बैरी है। पशु-पक्षी सब भोगाधीन होने के कारण पामर है। भोगाधीन चित्त पामर है, दरिद्र है, पराधीन है। भोगमात्र पराधीन है और यह पराधीनता दूसरे से आशा करवाती है। जो सुख दूसरे के आश्रित होता है, उसकी स्थिरता दूसरे की स्थिरता और अनुकूलता तक ही होती है। मनुष्य मे भी छोटाई-बड़ाई चित्त की वशता के ऊपर ही है। जिसका चित्त विशेष निगृहीत होता है, वह दूसरो से बड़ा है, देवता रूप है; क्योंकि उसका चित्त विशेष निगृहीत है। निगृहीत चित्त मे विशेष सामर्थ्य, शक्ति और सिद्धि का उदय होता है, और अनिगृहीत चित्त भोग से विविध सामर्थ्य का नाश करता है। भोग पल-पल में पुण्य का नाश करता है। अभोग पल-पल मे चित्त को निगृहीत करके विविध शक्ति का संचय करता है। जैसे समान आय वाले खर्चीले और कंजूस-दो मनुष्यो मे कंजूस धन-संचय करता है और खर्चीला उससे वंचित रहता है, उसी प्रकार निगृहीत चित्त शक्ति का क्षय करता है। एक मनुष्य भोग-विशेष मे निगृहीत होता है और दूसरे मे अनिगृहीत। इससे जितना भोग मे निग्रह होगा, उतनी ही उसमे सामर्थ्य विशेष आवेगी। पाँच प्रकार के भोग होते है। पाँचों प्रकार के भोग से जिसकी चित्त की वृत्ति उपरामता को प्राप्त हो गयी है और इस कारण जिसका चित्त आत्मा मे सदा के लिये स्थापित हो गया है, वह मुक्त है। चित्त की भोग मे स्थिति का नाम है जन्म-मरण; चित्त की आत्मा मे स्थिति का नाम है मोक्ष। भोग मे चित्त को रखते हुए जो मोक्ष की इच्छा करता है, वह मानो कमर मे भारी पत्थर बाँधकर सागर तैरने का इच्छुक है। चित्त से भोग का त्याग किये बिना, चित्त को भोग मे से हटाये बिना कभी चित्त आत्मा मे स्थिर होने का नही।

जैसे एक देह छोड़े बिना, दूसरा देह सामान्य मनुष्य के द्वारा नही धारण किया जा सकता, उसी प्रकार भोग मे से चित्त को हटाये बिना आत्मा मे चित्त की स्थिति मुमुक्षु के द्वारा सिद्ध नही हो सकती।

चित्त आलम्बन के बिना नही रह सकता। चित्त का भोग ही आलम्बन है। भोग से परिणाम में दु:ख तो दीखता है, परन्तु आत्मा के सुख का अनुभव नही होता; इसी से वह भोग त्यागकर आत्मा मे स्थिति नही कर सकता। अपने पिता के यहाँ पाली गयी कन्या बड़ी होने पर विवाह होने के बाद ससुराल जाने में हिचकती है, उसी प्रकार चित्त भोग त्यागने में हिचकता है। जब ब्याही कन्या परवश होकर ससुराल जाती है और वहाँ पति सुख का अनुभव करती है, वह वहाँ कठिनता से रहती है, पर जब पतिगृह में एकता प्राप्त करती है, तब पितृगृह को भूल जाती है। इसी प्रकार चित्त को जब आत्मसुख का अनुभव होता है, जब वह भोग सुख को छोड़ देता है। आत्मसुख का अनुभव हुए बिना चित्त भोग सुख के रस को छोड़ नहीं सकता। भले ही शरीर से भोग न भोगे; परन्तु उसके अन्तर में तो भोग की लालसा तभी छूटती है, जब वह आत्मसुख का अनुभव करता है। भोग सुख खण्डित है, क्षणिक है। आत्म सुख अनन्त है। जैसे वस्तु का सुख तभी तक भोगा जाता है, जब तक वह वस्तु रहती है, उसी प्रकार भोग का सुख भोग-पदार्थ प्राप्त होने तक भोगा जाता है। जैसे मणि का प्रकाश सुलभ है और दीपक का प्रकाश पराधीन है, उसी प्रकार आत्मसुख सुलभ और नित्य है तथा भोग सुख दुर्लभ और अनित्य है। भोग सुख वस्तु के अधीन है और वस्तु पल-पल काल के गाल में चली जा रही है।

केवल भोग-वस्तु ही कालाधीन नही, बल्कि भोग भोगने के साधन-देह और इन्द्रियाँ भी कालाधीन है। इसलिये भोग-पदार्थ, देह, इन्द्रियाँ-सब कालाधीन और पराधीन है; और इसमें भी भोग सुख भोग के प्राप्ति-काल में ही रहता है। भोग से सुख चाहने वाले को अनेकों क्लेश और कष्ट सहकर भोग प्राप्त करने पड़ते हैं। प्राप्त भोग की काल से और पराये से रक्षा करनी पड़ती है, इन सब में उसको सुख के बदले दु:ख का ही अनुभव करना पड़ता है। भोग प्राप्त करने के विचार से जब से उद्यम शुरू होता है, तब से उस भोग को प्राप्त कर भोगने के समय तक तो भोग की इच्छा वाले को सुख के बदले दु:ख का ही अनुभव होता है। प्राप्ति के काल में सुख का लेश अनुभव करने के बाद, फिर वृत्ति अन्य भोग की प्राप्ति में या प्राप्त भोग के क्षण में लीन हो जाती है। यों एक क्षण के सुख के लिये अनेक क्षण के लंबे समय में जीव दु:ख का अनुभव करता है और इस भोग को प्राप्त करने तथा भोगने में भोग के साधन, शरीर इन्द्रियों और बल का नाश ही होता है।

विषयभोग और रसभोग-ये दो मुख्य भोग हैं। विषय भोग से शरीर, इन्द्रियों और चित्त का बल नष्ट होता है, शरीर क्षीण होता है, वीर्य नाश को प्राप्त होता है, प्राण क्षीण होता है। भोग मात्र पिछले भोग के लिये शरीर को अशक्त करते चले जाते हैं और फिर दूसरे भोग की वासना प्रदान करते जाते हैं। यह भोगों की विशेष खूबी है। भोग भोगने से सदा के लिये भोग की इच्छा मरती नहीं। परन्तु भोग के रस का, भोगेच्छा का बीज वह बोता जाता है और उसकी प्राप्ति के लिये आसक्ति प्रदान करता जाता है। यह बड़ी विचित्रता है। प्रत्येक भोग दूसरे भोगों की प्राप्ति की वासना और उसको प्राप्त करने की आसक्ति प्रदान करता रहता है। ऐसी परम्परा रहती है, जब चित्त

भोग से कैसे तृप्त हो ? शरीर, भोग और साधन के कम होने और नाश को प्राप्त होने पर भी भोगेच्छा न तो घटती और न नाश को प्राप्त होती है, बल्कि ताजी होती जाती है और इसी कारण वह दूसरे शरीर को उत्पन्न करती है। इसी का नाम है पूर्व देह का मरण और नये देह का जन्म।

देह धारण करना और त्याग करना तथा फिर दूसरा देह धारण करना-यह चक्र न जाने कितने काल से जीव का चलता आ रहा है। अनेकों दुःखों और क्लेशों का अनुभव होने पर भी चित्त इससे विराम नहीं प्राप्त कर रहा है; क्योंकि उसको दूसरा आलम्बन नहीं मिला। जिसे शराब की लत पड़ गयी है, वह अनेकों प्रकार के दुःख उठाता हुआ भी आदत होने के कारण जैसे उसको छोड़ नहीं सकता और दुःख में पड़ा रहता है, उसी प्रकार चित्त दुःख पाने पर भी भोग को नहीं छोड़ सकता।

जैसे नदी के पानी को समुद्र में जाने से रोकने के लिये सुदृढ़ बाँध के सिवा अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता, उसी प्रकार चित्त की वृत्ति को भोग की ओर से दृढ़ आग्रहपूर्वक हटाने के सिवा लाख उपाय करने पर भी वह आत्मा की ओर नहीं लग सकता।

आत्मा का अर्थ है-नित्य, सुप्राप्त, शाश्वत, विकार-विनाशरहित अखण्ड सुख का धाम। और भोग का अर्थ है- अनित्य, दुर्लभ, विकारी, विनाशी तथा क्षणिक सुख और अखण्ड दुःख का धाम। इसलिये चित्त को भोग की ओर से हटाने के लिये आग्रह पूर्वक भोग विशेष से निवृत्ति रूप वैराग्य का प्रबल बाँध उसके प्रवाह को रोकने के लिये बाँधना चाहिये और साथ-ही-साथ दूसरी ओर से प्रवाह को आत्मा की ओर बहाने का अभ्यास करना चाहिये। वैराग्य और अभ्यास के बिना चित्त आत्मा में स्थिति लाभ नहीं कर सकता।

जैसे पर-स्त्रीलम्पट पुरुष परस्त्री की ओर से मुख मोड़कर यदि अपनी स्त्री में पूर्णरूप से मग्न हो जाय, तभी वह परस्त्री का ख्याल छोड़ सकता है, नहीं तो फिर परस्त्री में रत हो जाता है, उसी प्रकार भोग से लौटा हुआ चित्त आत्मा में स्थिर होने पर भोग को भूल सकता है, नहीं तो फिर भोगों में लौट आता है।

अब प्रश्न यह है कि पाँचों भोगों से चित्त को कैसे लौटाया जाय तथा आत्मा में उसकी स्थिति कैसे करायी जाय ? प्रत्येक भोग के लिये पृथक्-पृथक् उपायों के साथ पहले 'वैराग्य' के विषय में समझना है।

चित्त भोग की इच्छा करता है, उसके पहले चित्त की शान्त अवस्था होती है। चित्त जब शान्त होता है, किसी भी संकल्प या इच्छा से रहित होता है, तब वह अखण्ड सुख का अनुभव करता है। संकल्प, इच्छा, भोग-विचार शान्त चित्त को अशान्त करते हैं। अशान्त चित्त दुःख और क्लेश का अनुभव करता है। अब तक भोगों में लगे चित्त को लौटाकर अखण्ड सुख की इच्छा करने वाले जिज्ञासु को सर्व प्रथम जीवन-यात्रा चलाने के अतिरिक्त सारे व्यसनों और भोगों को त्यागने का अभ्यास करना चाहिये। इस साधन में सबसे प्रथम सारे व्यसनों का त्याग करे। व्यसन उसे कहते हैं, जिसके न होने पर देह तो नष्ट होती नहीं, परन्तु जिसके न मिलने पर मन को चैन नहीं पड़ता। बीड़ी, पान, सुपारी, तंबाकू, अफीम, शराब, चाय, काफी, इत्र, फुलेल आदि जो जो व्यसन

हों, जो मनोरंजन के लिये किये जाते हों, उनको आग्रहपूर्वक छोड़ें- बल पूर्वक छोड़ें। इन व्यसनों के छोड़ देने पर चित्त को बहुत आराम मिलता है। चित्त में शक्ति और स्फूर्ति आने लगती है। खूबी यह है कि ज्यों-ज्यों चित्त व्यसनों के अधीन होता जाता है, त्यों-ही-त्यों चित्त, शरीर और इन्द्रियों की शक्ति नष्ट होती जाती है और धन भी नाश को प्राप्त होता जाता है एवं ज्यों-ज्यों व्यसन छूटता जाता है, त्यों-त्यों बल, बुद्धि, तेज और धन बढ़ता जाता है। इसलिये साधक को कोई भी व्यसन नहीं रखना चाहिये।

इसके बाद किसी भी दूसरे की कोई भी वस्तु लेने अथवा अपने व्यवहार में लाने की बात मन से भी न सोचे। पर-स्त्री-भोग, पर-धन-हरण, पर वस्तु को जाने या अनजाने लेने की इच्छा भी न करें। इस साधना से व्यभिचार चोरी आदि दुराचार, सब बंद हो जाते हैं। और अपनी सच्ची मेहनत की कमाई से जो कुछ मिले, उसी से निर्वाह करने का बल आता है। सच्ची मेहनत की कमाई से प्राप्त रोटी में चित्त शुद्ध करने की अद्‌भुत सामर्थ्य है। अधर्मयुक्त, दूसरे से छीनी हुई, झूठ-कपट और चोरी से की हुई कमाई का सूक्ष्म संस्कार भी बुद्धि को मलिन करता है। श्रेय की इच्छा रखने वाले पुरुष को अपने हक की, सच्ची मेहनत की कमाई के सिवा किसी से कुछ भी न लेना-दान भी न लेना चाहिए।

फिर ऐसी साधना करें कि अपनी कोई भी क्रिया किसी को दुःख देने के आशय से न की जाय। प्रत्येक क्रिया करने के पहले यह जान ले कि इस क्रिया से किसी को दुःख तो नहीं होता ? यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है, इसको 'अहिंसा' कहते हैं। अहिंसा का विस्तृत अर्थ है। अहिंसा का सर्वांगीण पालन करने वाला मुक्ति पाता है। डाक्टर रोगी का आपरेशन करता है, वह हिंसा नहीं है। डाक्टर की यह क्रिया रोगी को दुःख देने के लिये नहीं, उसे दुःख से मुक्त करने के लिये होती है। राजा चोर को दण्ड देता है, वह हिंसा नहीं है; क्योंकि उसकी यह क्रिया चोर को चोरी के दुर्व्यसन से मुक्त करती है, वह चोर के सुख के लिये होती है। अहिंसा का सारांश यह है कि क्रिया का आशय दूसरों को दुःख देना भी नहीं होना चाहिये। किसी के हक की रक्षा करने में-जिनका हक नहीं है, उनको दुःख हो तो वह हिंसा नहीं है। बिना हकवाले हक न होने से दुखी होते हैं, हकवाले की क्रिया से नहीं।

इसके बाद जिज्ञासु अपने हक के भोगों में भी सुख का अभाव देखकर उनसे वृत्ति हटाकर आत्मा में लगाये। जीवन-निर्वाह मात्र के लिये भोजन करें, जीभ के स्वाद के लिये नहीं। शरीर-रक्षामात्र के लिये वस्त्र पहने, सुन्दरता दिखलाने के लिये नहीं। कीमती वस्त्र पहनना, बाल संवारना, फैशन वाले कपड़े, आभूषण पहनना आदि सबका धीरे-धीरे त्याग करें। बिना स्वाद का सादा भोजन करें। पाँचों इन्द्रियों के जो सम्पूर्ण भोग हैं, उनका धीरे-धीरे त्याग करता जाय। भोग में सुख समझकर भोगों में लिपटा हुआ जीव जब उनमें सुख के बदले दुःख देखता है, तभी उनसे पीछे हट सकता है।

'भोग में सुख है' इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाला साहित्य जगत् में बहुत पाया जाता है। नाटक, सिनेमा, उपन्यास, कहानी, समाचार-पत्र, मासिक पत्रिका, चित्र, परम्परा से चली आयी बातों

और भावनाओं ने भोग में सुख न होने पर भी 'उसमें सुख है' ऐसा निश्चय मन में गहरा धँसा दिया है। जैसे शराब के नशे में बकते हुए आदमी से हीरे का मूल्य पूछो तो वह कुछ नहीं बता सकता-क्योंकि उसे उसका पता ही नहीं होता, उसी प्रकार भोग-सुख के नशे में पड़े हुए जीव को आत्म सुख की कोई कल्पना ही नहीं होती। जब तक नशा नहीं उतरता, तब तक व्यसनी यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाता कि वह कौन है ? उसी प्रकार भोग-वासना में फँसा जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता। इसलिये जिज्ञासु 'भोग में सुख है' यह बतलाने वाले सारे संग को छोड़ दे। भोग और भोगी का संग छोड़ दे। अर्थात् उनके साथ में उतनी ही बात करें, जितनी व्यवहार के लिये अनिवार्य हो। दूसरी बातों में पड़े ही नहीं। भोग और भोगी का संग छोड़े बिना लाखों उपायों से भोग छूटने वाले नहीं हैं। भोग और भोगी के संग में रहकर भोग छोड़ने की इच्छा करने वाले मूर्ख है, संसार को ठगते है, दम्भी है या वासना वाले है। भोग 'मुझ ज्ञानी का क्या कर लेगा' यह कहने वाला मूर्ख है' शठ और ठग है, पामर है, दया का पात्र है।

ज्ञानी वह है, जो भोग और भोग-वासना को समूल छोड़ चुका है। इस प्रकार भोग और भोगी का संग छोड़ते समय भलों को भोग त्याग करने वाले तथा भगवत्पथ में चलने वालों का संग करायें। जगत् में जिसके पास जो होता है, वही दूसरों को देता है। भोगी दूसरों को भोग देता है, साधु दूसरों को सज्जनता देता है; इसलिये अपने को जैसा बनना हो, वैसा ही संग करे। आत्मज्ञान का मनन, भोग में दुःख देखने का अभ्यास, संसार नाशवान् और मिथ्या है-यह भावना, एकान्तवास, पवित्र स्थान में निवास, हरिभक्ति, यथाशक्ति व्रत और उपवास, एवं सत्य का सेवन करे; नीति और सदाचार का पालन करे; मुक्तों की जीवनी तथा ईश्वर के अवतारों की महिमा की कथाएँ बाँचे और सुने; साधुओं का संग करे; मृत्यु भय को सदा मन में रखे; सम्बन्धियों के सम्बन्ध क्षणिक हैं- जाने तथा मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, क्या करने के लिये आया हूँ, क्या करता हूँ और क्या करना चाहिये-इत्यादि विषयों पर एकान्त में बैठकर या किसी निर्लोभी, ज्ञानी साधु की सेवा में रहकर विचार करें; लघु सात्विक भोजन करे। न्याय और नीति के अनुसार, लोकनिन्द्य न हो-इस प्रकार की आजीविका करे। ऐसा कर्म करे, जो प्राणिमात्र के लिये सुखरूप हो। दया रखे, सुपात्र के दान करे, पुण्य कर्म करे, देवता का पूजन करे, वृद्ध, ज्ञानी, आश्रित तथा साधु की सेवा करे, ध्यान और अभ्यास करे, जप करे, बाहर और भीतर से पवित्र रहे, प्राणिमात्र का भला चाहे। प्राणिमात्र परमात्मस्वरूप है, यह जानकर सभी प्राणियों की यथाशक्ति अपनी क्रियाओं से सेवा करे। इन और ऐसे ही दूसरे उपायों से तथा संतों एवं शास्त्रों के आज्ञानुसार आचरण करने से चित्त भोगों से हटकर धीरे-धीरे स्वप्रयत्न में आगे बढ़ता जायगा। परमात्मा की शरण में रहे तथा भगवान, सारी आपत्तियों से, भोगमात्र से चित्त को हटाकर निजस्वरूप में लगा लें, इसके लिये बार बार उनसे प्रार्थना करें।

❋❋❋

योग क्या है ?

स्वामी डा० केशवाचार्य, चान्दोद (बड़ौदा)

समस्त दर्शन शास्त्रों में योग दर्शन ही प्राचीनतम दर्शन है। प्राचीन मुनि पतंजलि इस योग दर्शन के रचयिता हैं। इस योग के द्वारा समस्त तत्वों का ज्ञान जिस प्रक~ सूक्ष्मतम रूप में प्रस्फुटित होता है, उस प्रकार अन्य किसी साधना के द्वारा सम्भव नहीं। क्योंकि प्राचीन भारत में जितने मुमुक्षु सम्प्रदाय थे, उनमें जो लोग तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा आत्म साक्षात्कार करते थे, उन्हीं लोगों का सम्प्रदाय योग सम्प्रदाय कहलाता था। इस योग के पुरातन या आदिम वक्ता हिरण्यगर्भ अथवा भगवान शंकर हैं। चित्त को संयत करने पर जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उस एकाग्रता का अभाव होने पर हम जागतिक किसी पदार्थ या विषय का भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, और जिस समय चित्त विषयासक्ति प्रभृति अवैराग्य के द्वारा अभिभूत नहीं होता, उस समय वह जिस एकाग्र भूमि पर आरोहण करता है, उसके द्वारा निरोध रूप परमोपशान्ति नित्य प्रतिष्ठित होती है। इसके समान श्रेष्ठ बल और कुछ भी नहीं हो सकता है। आत्मसाक्षात्कार-प्राप्ति ही साधना का चरम उद्देश्य है। क्योंकि उसके अतिरिक्त दुःख निवृति का कोई दूसरा सुगम पथ नहीं है।

''अयंतु परमोधर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्''।

योग के द्वारा आत्म दर्शन प्राप्त करना ही परम धर्म है। हमारे समस्त दुःख भोग का मूल चित्त का स्पन्दन ही है। चित्त के स्पन्दन की निवृत्ति होने पर दुःख की निवृत्ति हो जाती है। अन्यथा लाख विचार करें, आलोचना करें, या श्रवण करें उससे कुछ भी नहीं हो सकता। हमारे देश को या अन्य देशों की भी समस्त साधनाओं में जो प्रणालियाँ बतलाई गयी है, उनमें चित्त को न्यूनाधिक मात्रा में निरुद्ध करने का उपदेश सब सम्प्रदायों में प्रचलित है। ऐसा देखा जाता है। वास्तव में चित्त को स्थिर किये बिना कोई दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए चित्त का चरम स्थैर्य जो समाधि है, उसके द्वारा त्रिताप ज्वाला की एकदम निवृत्ति हो जाती है। इन्द्रिय जनित हमारा जो ज्ञान है, वह शुद्ध ज्ञान नहीं है। क्योंकि विक्षिप्त चित्त में जो ज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञान से आत्मदर्शन नहीं होता। समाधि जनित ज्ञान के बिना कोई आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। कठोपनिषद् में कहा गया है-

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

जो व्यक्ति पाप से निवृत नहीं हुआ है, अथवा जो केवल इन्द्रिय परायण है एवं जो असमाहित अर्थात् एकाग्रता रहित, चंचलचित्त है-वह कभी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। अथवा जो व्यक्ति अशान्त मन वाला अर्थात् फल कामना में आसक्त चित्त वाला है, वह केवल विचार के द्वारा आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता। उपनिषद् में आत्मा की प्राप्ति के विषय में कहा है-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभि:।।

समस्त भूतों के अन्दर आत्म-चैतन्य गुप्त रूप से निहित है, यह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। ध्यान निश्चला सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म दर्शियों को यह आत्मा दिखायी देता है। अर्थात् वह उनके सामने प्रकट होता है।

आत्म दर्शन करने के लिए बुद्धि को अत्यन्त सूक्ष्म करना होता है। साधारणत: विषय व्यापार संलग्न चित्त अत्यन्त स्थूल अर्थात् चंचल होता है। उस स्थूल चित्त में सूक्ष्मतम आत्मदर्शन होना असम्भव है। इसलिए चित्त को स्थिर करते-करते उसे इतना स्थिर कर देना होता है उसका सारा स्पन्दन शान्त हो जाय। इस अवस्था का वर्णन उपनिषद् में इस तरह मिलता है-

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु: परमां गतिम्।।
तां योग मिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।

जिस अवस्था में पंचज्ञानेन्द्रिय मन के साथ त्यागकर अन्तर्मुखी हो जाती है, और बुद्धि भी चंचल नहीं रहती, अर्थात् विषय चिन्तन का दाग उसमें नहीं लगता, योगी उस इन्द्रिय मनो बुद्धि के स्थिरता को आत्मज्ञान प्राप्त करने की श्रेष्ठ साधना कहते है। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणा को (अर्थात् इन्द्रियों की निश्चलता को) योगी लोग योग नाम से पुकारते है। चूँकि योग हित और अहित दोनों का कारण होता है, इसलिए इस बात के लिए सावधान रहना चाहिये कि चित्त की परम स्थिरता प्राप्त होने के पहले प्रमाद न आ जाय। अर्थात् उस समय में योगी को अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अगर वह प्रमाद वश उनमें आसक्त हो गया तो समस्त अभ्यास का परिश्रम नष्ट हो जाएगा। जिस वस्तु के प्रति चित्त का आकर्षण होता है उसी वस्तु की ओर चित्त की स्वाभाविक गति होती है। चित्त जब बार-बार उस वस्तु का भोग करता है तब उसमें तदनुरूप संस्कार उत्पन्न होते है। संस्कार से वासना उत्पन्न होते हैं। वासना बढ़ते-बढ़ते इस विराट संसार की रचना कर बैठती है। यदि उन सब वासनाओं और योगादि के परिणाम नीरसता का विचार किया जाय तो उन सब वस्तुओं को पाने का आग्रह मन में फिर नहीं आ सकता। जब तक वस्तु के लिए चित्त में आग्रह रहता है तब तक उस चित्त को मल युक्त कहा जाता है। और यह समल चित्त भगवच्चिन्तन में बाधक है। इसी से सब काल में साधकों ने भागवद् भावना के विरोधी विषय-वासना को हेय कहा है। वैराग्य के प्राप्त होने पर विषय की ओर चित्त आकृष्ट नहीं होता और मन सहज ही स्थिर होकर आत्मानुसन्धान में प्रवृत्त हो सकता है। वैराग्य अनायास नहीं आता, यह समझने पर ही विषय के प्रति प्रतिकूल भाव का पोषण किया जा सकता है। ऐसा नहीं है। अन्त:करण के अन्दर जो अंश चित के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें जीव के जन्म जन्मान्तर संस्कार एकत्रित रहते है। जब तक यह चित्त क्षीण नहीं होता तब तक अनादि संसार-वासना क्षय को प्राप्त नहीं होती। हजारों लाखों जन्मों के संस्कारों से चित्त भरा हुआ होता है, इसलिए चित्त को जीतना सहज काम नहीं है। चित्त के मूल कारण दो है-

''हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः''।।

'चित्त के अन्दर वृत्ति प्रवाह के केवल दो हेतु हैं। एक तो है वासना अर्थात् भावनामय संस्कार और दूसरा है प्राण प्रवाह'। प्राण के अन्दर वासना का बीज और संस्कार ग्रथित रहते हैं। प्राण के स्पन्दन से मन स्पन्दित होने पर वृत्ति प्रवाह रूप उत्ताल तरंग माला उठना आरम्भ करती है। इसलिए प्राण और मन के स्पन्दन का नाश करने की व्यवस्था योग शास्त्र में बार-बार दी गयी है। निरन्तर नाड़ियों से होकर प्राण धारा जीव शरीर में प्रवाहित हो रही है और वही श्वास के रूप में स्थूलतः दिखायी देती है। यह श्वास ही जीव का जीवन है। परन्तु श्वास की इस प्रकार की गति को योगी लोग संसार-वासना का मूल कारण समझते हैं। इसलिए योगियों के किसी-किसी सम्प्रदाय ने ऐसी चेष्टा की कि श्वास का ही निरोध किया जाय। क्योंकि-

'पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।'

प्राण वायु स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है। अवश्य ही मन स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर होता है। इसलिए योगियों में एक सम्प्रदाय ने प्राण का और दूसरे सम्प्रदाय ने मन का निरोध करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। इन्द्रिय विकारादि दोष समूह प्राणनिग्रह के द्वारा दूर होते हैं। यह बात महर्षि मनु के उपदेश में भी देखी जाती है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथामलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।

अग्नि के द्वारा उत्तप्त होने पर धातु के मल जिस प्रकार जल जाते हैं उसी प्रकार प्राण वायु के निग्रह के द्वारा इन्द्रियों के भी समस्त दोष दग्ध हो जाते हैं। योग दर्शन में लिखा है, महामोहमय इन्द्रजाल के द्वारा जब प्रकाशशील सत्व ढंक जाता है, तब अन्य गुण कार्यशील होकर जीव को अकार्य में नियुक्त करते हैं। उस प्रकाश को ढकने वाले कर्म प्राणायाम के द्वारा नष्ट होते हैं:-

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'

जब तक रज-तम के कार्य चलते रहते हैं, तब तक बुद्धि का विकार नष्ट नहीं होता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि पंच क्लेश कार्यकारण स्रोत को उत्पन्न कर कर्म विपाक की सृष्टि करते हैं। इसी कारण समाधि-साधन द्वारा बुद्धि स्थिर करने और सब 'क्लेश' क्षीण करने के लिए योगी क्रिया योग का अनुष्ठान करते हैं। क्योंकि जब तक सब क्लेश क्षीण नहीं हो जाते तब तक वे अप्रसवधर्मा नहीं होते। क्लेश की प्रबल अवस्था रहने पर अशुद्धि दूर नहीं होती। परन्तु क्रियायोग (प्राणायामादिक्रिया) के द्वारा अशुद्धि नष्ट हो जाती है। अशुद्धि दूर होने पर सब क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। सब क्लेशों के क्षीण हुए बिना अशुद्ध वृत्तियों को नष्ट करना सम्भव नहीं होता। अशुद्ध वृत्तियों की प्रबल अवस्था में उनको कोई सम्भाल नहीं सकता। पहले ऐसी चेष्टा करने की आवश्यकता है जिससे सब क्लेश क्षीण हो जायें। क्लेश समूह के क्षीण हो जाने पर ''ऋतम्भरा'' प्रज्ञा का उदय होता है और ऐसी 'प्रज्ञा' के द्वारा 'क्लेश' समूह अप्रसवधर्मा हो जाता है। क्लेश समूह की फिर वृति उत्पन्न नहीं होती। इसलिए वशिष्ठ जी ने कहा है-

'दुःसहा राम संसार विषवेगविषूचिका।
योगगारुड मन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति।।

हे राम! यह संसार रूपी विषवेगविषूचिका अत्यन्त दुःसह है। केवल परम पावन योगाभ्यास रूप गरुड़ मन्त्र के द्वारा ही उसका उपशमन किया जा सकता है। साधारणतः जब हमारा चित्त संसार मुखी होता है तब श्वास भी बाहर की ओर विचरण करता है। इस श्वास की गति की ओर योगियों ने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिका से चलता है तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवों का श्वास प्रवाह इन्हीं दो नासापुटों से प्रवाहित होता है। अतएव संसार वासना किसी तरह निवृति नहीं होती। इसी कारण योगियों ने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहर की ओर गमनागमन न करे। बाहर की ओर गमनागमन करने का पथ इड़ा और पिंगला नाड़ी है। साधारणतः अज्ञानी की ज्ञान नाड़ी सुषुम्ना पथ बन्द रहता है। योगी इसलिए इड़ा और पिंगला का द्वार बन्द करके सुषुम्ना मार्ग से प्राण को चलाने की चेष्टा करते है। अन्यथा मनुष्य के अन्दर वास्तविक ज्ञान का उदय होना सम्भव नही। इसमें समस्त ज्ञान नाड़ी पथ से होता है। ब्रह्मज्ञान भी नाड़ी पथ से होता है। वह ब्रह्मज्ञान प्रवाहिका नाड़ी सुषुम्ना है। उसी से प्राण को चलाना होगा। योग शास्त्र में कहा गया है कि-

'विधिवत् प्राण संयामैर्नाड़ी चक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः।।
मारुते मध्य संचारे मनः स्थैर्य प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी।

विधिवत प्राण संयम के द्वारा नाड़ी चक्र के विशुद्ध होने पर सुषुम्ना का मुख खुल जाता है और उसके अन्दर प्राण वायु सहज ही प्रवेश कर जाता है। मध्य नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना के अन्दर प्राणवायु संचालित होने पर मन को जो स्थिर भाव प्राप्त होता है उसी स्थिरावस्था का नाम उन्मनी अवस्था है। इस **उन्मनी अवस्था** को प्राप्त योगी देवताओं के भी पूजनीय होते है। इस योगाभ्यास के द्वारा काल को भी ठगा जा सकता है। बोधसार ग्रन्थ में लिखा है-

'गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोग प्रसादतः।
वंचयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति हि।।'

गोरक्षनाथ, चर्पटि प्रभृति योगी हठयोग के अनुष्ठान के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर मृत्यु को ठगकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते है। बहुत से लोग हठयोग से घृणा और राजयोग का आदर करते है। परन्तु योग शास्त्र में कहा है कि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग किसी को भी वास्तविक सिद्धि नही दे सकता। वास्तव में सब योगों के अन्दर एक प्रकार की एकता है और परस्पर सापेक्षता है। जो इस बात को नहीं समझते वे योगी नही है। बोध सार ग्रन्थ में लिखा है-

लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधाः मोक्ष मार्गगाः।।

लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग और भक्तियोग इन सब योगों के अन्दर मतैक्य है। जो मोक्षमार्ग गामी है। उन सब बुधों ने देखा है कि सब का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही है।

'हठिनामधिकस्त्वेक: प्राणायामपरिश्रम:।
प्राणायामे मन: स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मत:।।

हठयोगियों का मुख्य साधन है श्रमसाध्य प्राणायाम। यह अन्यान्य योगियों की साधना से अधिक है। परन्तु वह प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर चित्त स्थिर हो जाता है। यह कौन स्वीकार नही करेगा ? योग दर्शन में भी लिखा है कि प्राणायाम के द्वारा–

'धारणासु च योग्यता मनस:'।

मन को धारणा विषयक योग्यता प्राप्त होती है। प्राण की क्रिया है नि:श्वास, और अपान की क्रिया है प्रश्वास। इस श्वास प्रश्वास की गति रुद्ध होने का नाम है कुम्भक। इस प्रकार निगृहीत प्राणवायु में समस्त इन्द्रियाँ लीन हो जाती है। प्राणायाम अन्य प्रकार का भी है जिसमे जबरदस्ती वायु को रोकना नही पड़ता बल्कि प्राणापान को दीर्घ करके निरन्तर ग्रहण करने और त्यागने का जो कौशल है, उस कौशल का अभ्यास करते-करते अपने आप वायु रुद्ध हो जाता है। इसका नाम केवल कुम्भक है।

''रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायु धारणम्।''

प्राणायाम साधन का यह एक आश्चर्यजनक फल है, जो विधिवत् प्राणायाम का अभ्यास करते है, उनके श्वास की ऊर्ध्व-अध: गति का शेष हो जाता है। ⁂

सम्पादकीय सूचना

'सिद्धयोग' पत्रिका का मुख्य उद्देश्य योग के शाश्वत् सिद्धान्तों को सरल भाषा एवं रीति से प्रचारित करना है। इसके लिए इसमें स्मृति–पुराण–श्रुति एव योग साहित्य में वर्णित एवं यौगिक विषयों से संबंधित प्रेरणादायी सामग्री प्रकाशित की जाती है। किसी मत अथवा सम्प्रदाय, आचार्य परम्परा एवं उनके सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करना इस पत्रिका की प्रकृति नहीं। पत्रिका के सम्पादन में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि जो भी लेख आदि सामग्री इसमें प्रकाशित हो वह पूर्णत: यौगिक विश्व को समर्पित हो और उससे पाठकगण एवं साधक उत्तरोत्तर लाभान्वित होते रहें।

हमारे इस प्रयास में प्रबुद्ध लेखकों का सदैव ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अत: लेखकों को चाहिये कि वे सिद्धयोग परम्परा से सम्बन्धित एवं योग विषयक शोधपूर्ण लेख स्वच्छ एवं सुस्पष्ट अक्षरों में कागज के एक ओर ही लिखकर निम्नांकित पते पर संप्रेषित करें–

ब्र. दासलाल शर्मा सम्पादक
सिद्धयोग कार्यालय
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

शब्द की महिमा

(लेखक–श्री विनोबा)

शब्द की हम बहुत कीमत करते हैं। शब्द मे जो शक्ति है, वह किसी चीज में नही देखी। हमारे जीवन पर जो शब्द का असर है, उसके अनुभव से हम यह कह रहे है। पाणिनि का एक सूत्र है–

'एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सुष्टु

प्रयुक्त: स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।

'एक शब्द का भी उच्चारण ठीक-ठीक स्वर्ग मे तथा इस लोक मे भी कामधुक् होता है। अपनी इस संस्कृत भाषा मे शब्द शक्ति बहुत पहले प्रकट हुई। आप लोग जानते है कि अंग्रेजी भाषा में लाखों शब्दों का संग्रह है। परन्तु वह केवल शब्द संग्रह होता है, उससे शब्द शक्ति प्रकट नही होती। एक-एक यन्त्र के असंख्य पुर्जे होते है। एक-एक का अलग-अलग नाम होता है। इस तरह एक-एक यन्त्र से १०-१०, ५०-५० शब्दों का उपयोग होता है, परन्तु ऐसे शब्द भंडार से शब्द शक्ति बढ़ती है, यह नहीं। वह तो ऐसा है–जितना जीवन में परिग्रह बढ़ेगा, कचरा बढ़ेगा, उतने शब्द बढ़ेंगे। वह तो शब्दों का ढेर ही होगा। उससे विचार सम्पदा नही बढ़ती। वैसे अंग्रेजी मे विचार सम्पदा बहुत है। लेकिन हम संस्कृत में जो शब्द की महिमा देखते है, वह महिमा वहाँ नही है। ५० नयी-नयी चीजे बनेंगी तो ५० नये शब्द उनके लिये होंगे। परन्तु ऐसे शब्द के संग्रह से व्यर्थ परिग्रह हो जाता है। यह अब पाश्चात्य लोग भी समझ गये है। इसलिये आप एक-एक यन्त्र के एक-एक पुर्जे को नाम नही देते। आँकड़ों में ही माँग की जायेगी। इस तरह यन्त्रों के पुर्जों के अनेक नाम देने के बजाय आँकड़ों से काम लेने लगे। परन्तु संस्कृत मे हम क्या देते है ? संस्कृत में विचार के प्रतिनिधि रूप में शब्द बनाये गये है उदाहरण के लिये पृथ्वी' एवं 'जमीन' है। इंग्लिश मे कहते है 'अर्थ, लैटिन मे कहेंगे 'टेरा'। इस तरह एक शब्द 'अर्थ' और एक शब्द 'टेरा'। लेकिन संस्कृत में पृथ्वी के लिये पचास शब्द मिल जाते है। 'पृथ्वी' यानी फैली हुई। 'धरा'–धारण करने वाली। 'भूमि'-तरह-तरह के पदार्थों को जन्म देने वाली। 'गुर्वी'–भारी-वजनदार। 'उर्वी'–विशाल। 'क्षमा' –सहन करने वाली। हम लात मारते है तो भी वह सहन करती है। इस प्रकार एक-एक शब्द एक-एक गुण का वाचक है। एक-एक शब्द के साथ उसका एक-एक गुण ध्यान मे आयेगा। अब कवि कविता मे कोई भी शब्द रख देते है। देखते है कितनी मात्रा का शब्द चाहिए। इतनी मात्रा का चाहिये तो वे रख देते है कविता मे और एक छन्द बना लेते है। समझते है कि छन्द बनाने के लिये ही इतने शब्द है। ये छन्द के लिये नही है। विशेष गुण दर्शन के लिये, एक-एक वस्तु के लिये अनेक शब्द है। जब हम व्यापक फैली हुई 'पृथ्वी' कहते है, तब हम उस पदार्थ की तरह अंदर से देखने लगते है।

इस तरह संस्कृत-शब्दों में विचार भरा है। इसलिये हरेक शब्द हमसे बात करता है। इस तरह अंग्रेजी शब्द बात नही करता। 'वाटर' शब्द हमसे बात नही करता। हम ही उससे बात करें, तो बात अलग है। लेकिन संस्कृत-शब्द हमसे बात करने लगता है। **'पय:'**–पोषण करने वाला। **'पानीयम्'**–तृप्त करने वाला। **'उदकम्'**–अंदर से बाहर आया हुआ। **'समुद्रम्'** छोटा-सा शब्द दिखता है लेकिन यह बात करता है। **'सम्'** यानी चारों तरफ समान फैला हुआ। **'उद्'** ऊँचा उठा

हुआ, ऊँचा आया हुआ पानी। **'रम्'** यानी आह्लाददायक, खेलता हुआ, आनन्ददायक है। तो **'समुद्र' = सम्+उद्+रम्। 'समुद्रात् ऊर्मिः मधुमान् उदारत्'।**

वेदने कहा है-इस हृदय में समुद्र के समान असंख्य भावनाएँ उठती है। यह हृदय यानी समुद्र ही है। समुद्र का दृश्य इस हृदय में प्रकट होता है। 'सी' कहेंगे तो क्या होगा ? है एक पदार्थ। वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

'दुग्धम्' दोहन किया हुआ, सारा रूप। **'घृतम्'**- अत्यन्त पवित्र, निर्मल, कचरा निकाला हुआ। 'घृतं मे चक्षुः'। विश्वामित्र कहता है 'मेरी आँख घी है।' अंग्रेजी या किसी दूसरी भाषा में यह नहीं देखा गया कि कोई कहे 'मेरी आँख घी है।' **'घृतं मे चक्षुः'** कहा गया तो इसका अर्थ यह है-'मेरी चक्षु इतनी पवित्र है कि उसमें किसी प्रकार का पाप ग्रहण करने की शक्ति नहीं है। वह अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ है।'

'अग्नि' यानी -'फायर'। फायर कहने से कुछ हुआ ? कुछ नहीं। लेकिन 'अग्नि' अंजनादग्निः, रूप प्रकट हो गया, व्यक्त हो गया। **'वह्नि'** को वाहक है, ले जाता है, संदेश-वाहक है। यज्ञ में आहुति डालते हैं तो वह अग्नि आपकी भक्ति ऊपर भगवान् के पास पहुँचाता है। तो **'अग्निमीळे पुरोहितम्'** के बदले **'वह्निमीळे पुरोहितम्'** यह नहीं चलेगा। बिल्कुल ही दूसरा अर्थ होगा। इस तरह एक-एक शब्द का विशेष महत्व है। संस्कृत में एक-एक शब्द का व्यक्तित्व है। **'पीयूषम्', 'अमृतम्' 'सुधा'**-ये तीन शब्द अमृत के लिये है, परन्तु हरेक से विशेष अर्थ का बोध होता है। **'अमरा निर्जरा देवाः'** अमर कोश का आरम्भ ही इस वाक्य से होता है। **'अमराः'** अलग है और **'निर्जराः'** भी अलग है। अमर तो वह है, जो मरता नहीं। लेकिन जो बूढ़े हैं, रोग से पीड़ित हैं, क्या वे अमर होना पसंद करेंगे ? वे भगवान् से प्रार्थना करेंगे कि मुझे जल्दी ले जाओ। इसलिये **'निर्जराः'** कहा है। **'निर्जराः'** यानी जरा-रहित। जरारहित होंगे, तब तो वे अमर हो सकते हैं।

संस्कृत का शब्दकोश भी काव्यमय है। एक शब्द की कितनी तरह से व्युत्पत्ति होती है ! एक शब्द के अनेक अर्थ और अनेक अर्थों का वाचक एक शब्द। इसलिये वाक् प्रकाशन निर्मलता से संस्कृत में जितना होता है, उतना शायद ही किसी दूसरी भाषा में होता है, उतना शायद ही किसी दूसरी भाषा में होता होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि इस देश में शब्द-शक्ति बहुत है। अरबी, ग्रीक, लैटिन-इनमें भी कुछ शक्ति है। उनकी संस्कृत से कुछ तुलना हो सकती है परन्तु संस्कृत का शब्द जैसा व्याख्यान देना शुरू करता है वैसे उनके शब्द नहीं देते। **'घट'** शब्द है। **'घट'** यानी घड़ा। परन्तु **'घट'** का शरीर अर्थ भी होता है। घड़े में पानी रखते हैं, वैसे यह शरीर में क्या है ? पानी ही तो भरा है। हम स्वागत करते हैं पानी भरे हुए घड़े से, पूर्ण कुम्भ से। हम क्या दिखाना चाहते हैं ? यह सारा हमारा हृदय भक्तिभाव से भरा है-इस अर्थ में वह **'घट'** शब्द काम देगा। नानक ने कहा है-'प्रभु घट-घट में भरा है।' हमारे सामने जो बैठे हैं, सब घट ही हैं। सब भरे हैं। वे, पता नहीं, किन चीजों से भरे हैं। यह भी हो सकता है कुछ नाहक चीजों से भी भरे होंगे। कहने का मतलब यह है कि 'घट' शब्द की यह खूबी है। यह खूबी पॉट कहने से प्रकट नहीं होती; क्योंकि घट की एक घटना है न ? यह हमारा शरीर एक घटना रखता है। वैसे तो 'घट' शब्द घटना का सूचक है। इस तरह अंग्रेजी, फ्रेंच आदि शब्द हमें अपने अंदर पैठने नहीं देते लेकिन यहाँ के शब्द हमको अपने में प्रवेश देते हैं। इसीलिये शब्द की शक्ति प्रकट होती है।

(शेष अगले अंक में)

भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य उपदेश

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। (९।३२–३३)

हे अर्जुन ! मेरे अनन्यशरण होकर स्त्री, वैश्य और शूद्रगण तथा चाण्डालादि पापयोनि वाले भी निश्चय परमगति को प्राप्त होते हैं। फिर पुण्ययोनि ब्राह्मण तथा राजर्षि (मेरे शरणागत) भक्तों की तो बात ही क्या है। अतएव तुम इस सुख रहित और अनित्य मनुष्य जन्म को पाकर निरन्तर मेरा ही भजन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। (९।३४)

तुम मुझमें ही मन रक्खो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे शरण होकर आत्मा को मुझमें समाहित करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। (१८/६४)

सब गोपनीयों में भी परम गोपनीय मेरे परम रहस्य युक्त वचन तुम फिर सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तुम्हारे हित की बात बताता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८/६५–६६)

हे अर्जुन ! तुम केवल मुझमें ही मन रक्खो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। ऐसा करने पर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे। यह मैं तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे (बहुत ही) प्यारे हो। सब धर्मों (दूसरे सब तरह के आश्रय) को त्यागकर एकमात्र मेरी ही अनन्य–शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से सर्वथा छुड़ा दूँगा। तुम चिन्ता न करो।

यही सर्वोत्तम योग है।

SIDDHYOG Regd. No. L. AG. 008

मई 2000

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

समाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

घटावभास को भानुर्घटनाशे न नश्यति।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति।।

(आत्मप्रबोध० १८)

अर्थात्—जैसे घड़े का प्रकाशक सूर्य घड़े के नाश हो जाने पर नष्ट नहीं होता, वैसे ही देह का प्रकाशक साक्षी यानि आत्मा देह के नाश से नाश को प्राप्त नहीं होता।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बसाई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र समाई, (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326